त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

कृत पुस्तकें

बुद्धचर्या (हिन्दी) ५)

धम्मपद [illegible])

अभिधर्मकोश (संस्कृत) ४)

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि

(चीनभाषासे संस्कृतमें) (छप रही है)

बुद्धधर्म क्या है ? (हिन्दी) ।॥

बौद्धोंका अनात्मवाद (,,) ।॥

महाबोधि-पुस्तक-भंडार, ऋषिपतन,

सारनाथ, (बनारस).

धम्मपदं

[मूल पाली, संस्कृत-छाया और हिन्दी अनुवाद सहित]

अनुवादक

"महापण्डित" "त्रिपिटकाचार्य" राहुल सांकृत्यायन

प्रयाग

१९३३ ई०

प्रथम संस्करण
२००० प्रतियाँ

मूल्य ॥)
।=) आना

प्रकाशक

ब्रह्मचारी देवप्रिय, बी० ए०

प्रधानमंत्री

महाबोधि-सभा, ऋषिपतन

सारनाथ (बनारस)

मुद्रक

महेन्द्रनाथ पाण्डेय

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस

इलाहाबाद

लंकाद्वीपमें विद्यालंकार महाविद्यालयके अधिपति
त्रिपिटकवागीश्वराचार्य स्नेहमूर्ति गुरुदेव
लु० श्रीधर्मानन्द-*नायक-महा-*
स्थविरपादके करकमलोंमें
सादर समर्पित

व्यवस्थापकीय वक्तव्य

रक्त-मांस भाषा-विचार सभी दृष्टियोंसे हिन्दीभाषाभाषी भगवान् बुद्धके उत्तराधिकारी हैं। इन्हीं के पूर्वजोंने उनके अमृतमय उपदेशोंको सर्व प्रथम अपनाया । इन्होंने ही दुनियामें भारतकी धार्मिक और सांस्कृतिक विजयदुन्दुभी बजाई। पूर्वजोंकी इस अद्भुत और अमर कीर्त्तिका स्मरण करते, किसका शिर ऊँचा न होगा। लेकिन, यह कितने शोककी बात है, कि मातृ-भाषा हिन्दीमें भगवान् के दिव्य संदेश नहींके बराबर हैं। इसी कमी को दूर करनेके लिये हिन्दीमें महाबोधि-ग्रंथ-माला निकालनेका उपक्रम हुआ है। धम्मपद मालाका प्रथम पुष्प है। आगे निकलनेवाली पुस्तकोंके सस्तेपन और सुंदर छपाईका अनुमान इसी पुस्तकसे आप कर सकते हैं। मालाकी दूसरी पुस्तक होगी—मज्झिमनिकाय।

हम आशा करते हैं, कि हिन्दीप्रेमी सज्जन इस काममें हमारा हाथ बँटायेंगे और आठ आना भेज कर मालाके स्थायी ग्राहक बन जायेंगे।

(ब्रह्मचारी) देवप्रिय

प्रधानमंत्री, महाबोधि सभा,

ऋषिपतन, सारनाथ (बनारस)

प्रस्तावना

तिपिटक (=त्रिपिटक) अधिकांशतः भगवान् बुद्धके उपदेशोंका संग्रह है। त्रिपिटकका अर्थ है, तीन पिटारी। यह तीन पिटक हैं— सुत्त (=सूत्र), विनय और अभिधम्म (=अभिधर्म)।

१. सुत्तपिटक निम्नलिखित पाँच निकायोंमें विभक्त है—

१. दीघ-निकाय	३४ सुत्त (=सूक्त या सूत्र)
२. मज्झिम-नि.	१५२ सुत्त
३. संयुत्त-नि.	५६ संयुत्त
४. अंगुत्तर-नि.	११ निपात
५. खुद्दक-नि.	१५ ग्रंथ

खुद्दक-निकायके १५ ग्रंथ यह हैं—

(१) खुद्दकपाठ	(९) थेरी-गाथा
(२) धम्मपद	(१०) जातक (५५० कथायें)
(३) उदान	(११) निद्देस (चुल्ल-; महा-)
(४) इतिवुत्तक	(१२) पटिसम्भिदामग्ग
(५) सुत्तनिपात	(१३) अपदान
(६) विमान-वत्थु	(१४) बुद्धवंस

(७) पेत-वत्थु (१५) चरियापिटक

(८) थेर-गाथा

२. विनयपिटक निम्नि भागोंमें विभक्त है—

१—सुत्तविभंग—

(१) भिक्खु-विभंग } या { (१) पाराजिक

(२) भिक्खुनी-विभंग } या { (२) पाचित्तिय

२—खन्धक—

(१) महावग्ग

(२) चुल्लवग्ग

३—परिवार

३. अभिधम्मपिटकमें निम्नलिखित सात ग्रंथ हैं—

१. धम्मसंगनी
२. विभंग
३. धातुकथा
४. पुग्गलपञ्ञत्ति
५. कथावत्थु
६. यमक
७. पट्ठान

धम्मपद (=धर्मपद) त्रिपिटकके खुद्दकनिकाय विभागके पंद्रह ग्रंथोंमेंसे एक है। इसमें भगवान् गौतम बुद्धके मुखसे समय समयपर निकली ४२३ उपदेशगाथाओंका संग्रह है। चीनी तिब्बती आदि भाषाओंके पुराने अनुवादोंके अतिरिक्त, वर्तमान कालकी दुनियाकी सभी सभ्य भाषाओंमें इसके अनुवाद मिलते हैं, अंग्रेजीमें तो प्रायः एक दर्जन हैं। भारतकी अन्य भाषाओंकी तरह हमारी हिन्दी भी इसमें किसीसे पीछे नहीं है। जहाँ तक मुझे मालूम है, हिन्दीमें धम्मपदके अभीतक पाँच अनुवाद हो चुके हैं, जिनके लेखक हैं—

१. श्री सूर्यकुमारवर्मा हिन्दी (१९०४ ई०)

२. भदन्त चन्द्रमणि महास्थविर हिन्दी और पालीदोनों (१९०९ ई०)

३. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक हिन्दी (बुद्धगीता)

४. श्री विष्णुनारायण हिन्दी (सं० १९८५)

५. पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय पाली-हिन्दी (१९३२ ई०)

पाँच अनुवादोंके होते छठेंकी क्या आवश्यकता?—इसका उत्तर आप पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी और महाबोधिसभाके मंत्री ब्रह्मचारी देवप्रियसे पूछिये। मैंने बहुत ननु-नच किया किन्तु उन्होंने एक नहीं सुनी। ६ फरवरीसे ८ मार्च तक मैं सुल्तानगंज (भागलपुर)में "गंगा"के पुरातत्त्वांकके सम्पादनके लिये श्री बूपनाथ सिंहका अतिथि था। सम्पादनका काम ही कम न था, उसपरसे वहाँ रहते दो लेख भी लिखने पड़े। उसी समय इस अनुवाद में भी हाथ लगा दिया। जो अंश बाकी रह गया था, उसे किताब को प्रेसमें देनेके बाद समाप्त किया। इस तरह "बुद्धचर्या"की भाँति "धम्मपद"में भी जल्दीसे काम लिया गया है। इससे पुस्तकमें प्रूफही-की गल्तियाँ नहीं रहगईं, बल्कि जल्दीमें किये अनुवादकी पुनरावृत्ति न करनेसे अनुवादकी भाषाको और सरल नहीं बनाया जा सका, इन त्रुटियोंका मैं स्वयं दोषी हूँ।

ग्रंथमें पहिले बारीक टाइपमें बाईं ओर उस स्थानका नाम दिया है, जहाँ पर उक्त गाथा बुद्धके मुखसे निकली; दाहिनी ओर उस व्यक्तिका नाम है, जिसके प्रति या विषयमें उक्त गाथा कही गई। धम्मपदकी अट्ठकथा(=टीका)में हर एक गाथाका इतिहास भी दिया हुआ है; संक्षिप्त करके उसे देनेका विचार तो उठा, लेकिन समयाभाव और ग्रंथविस्तारके भयसे वैसा नहीं किया जा सका।

सुत्तपिटकके प्रायः १०० सूत्र, और विनयके कुछ अंशको मैंने अपनी बुद्धचर्यामें अनुवादित किया है। भारतीय भाषाओंमें पाली ग्रंथोंका सबसे अधिक अनुवाद बंगलामें हुआ है। जातकोंका

बंगला अनुवाद कई जिल्दोंमें है। श्रीयुत चारुचन्द्र वसुने धम्मपदका पालीके साथ संस्कृत और बगलामें अनुवाद किया है (इस ग्रंथसे मुझे अपने काममें बड़ी सहायता मिली है, और इसके लिए मैं चारु बाबूका आभारी हूँ)। बँगलाके बाद दूसरा नम्बर मराठी का है, जिसमें आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बीके ग्रंथोंके अतिरिक्त सारे दीघनिकायका भी अनुवाद मिलता है। इस क्षेत्रमें हिन्दीका तीसरा नम्बर होना लज्जाकी बात है। मैंने अगले तीन चतुर्मासोंमें मज्झिम-निकाय, महावग्ग, और चुल्लवग्ग—इन तीन ग्रंथोंको हिन्दी मे अनुवाद करनेका निश्चय किया है। यदि विघ्नबाधा न हुई, तो आशा है, इस वर्षके अन्तमें पाठक मज्झिम-निकायको हिन्दी रूप मे देख लेंगे।

गुरुकल्प भदन्त चन्द्रमणि महास्थविरने ही सर्व प्रथम धम्मपदका मूलपाली सहित हिन्दी अनुवाद किया था। उन्होंने अनुवादकी एक प्रति भेज दी थी; और सदाकी भाँति इस काममें भी उनसे बहुत प्रोत्साहन मिला; तदर्थ पूज्य महास्थविरका मै कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग
७-४-१९३३

राहुल सांकृत्यायन

वर्ग-सूची

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

धम्मपदं

१—यमकवग्गो

स्थान—श्रावस्ती व्यक्ति—चक्खुपाल (थेर)

१—मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो 'नं दुक्खमन्वेति चक्कं 'व वहतो पदं ॥ १ ॥

(मनःपूर्वङ्गमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोमया
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा ।
तत एनं दुःखमन्वेति चक्रमिव वहतः पदम् ॥१॥)

अनुवाद——सभी धर्मों (=कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों, या सुख दुःख आदि अनुभवों) का मन अग्रगामी है, मन (उनका) प्रधान है, (कर्म) मनोमय हैं । जब (कोई) सदोष मनसे (बात) बोलता है, या (काम) करता है, तो

वाहन (बैल घोड़े) के पैरोंको जैसे (रथका) पहिया अनुगमन करता है (वैसेही) उसका दुःख अनुगमन करता है ।

श्रावस्ती मट्ठकुण्डली

२—मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा ।
ततो 'नं सुखमन्वेति छाया' व अनपायिनी ॥२॥

(मनःपूर्वङ्गमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोमयाः ।
मनसा चेत् प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा ।
तत एनं सुखमन्वेति छायेवानपायिनी ॥२॥)

अनुवाद—सभी धर्मोंका मन अग्रगामी है, मन प्रधान है; (कर्म) मनोमय हैं । यदि (कोई) स्वच्छ मनसे बोलता या करता है, तो (कभी) न (साथ) छोड़नेवाली छायाकी तरह सुख उसका अनुगमन करता है ।

श्रावस्ती (जेतवन) थुल्लतिस्स (थेर)

३—अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

(अक्रोशीत् मां अवधीत् मां अजैषीत् मां अहार्षीत् मे ।
ये च तत् उपनह्यन्ति तेषां वैरं न शाम्यति ॥३॥)

अनुवाद—'मुझे गाली दिया', 'मुझे मारा', 'मुझे हरा दिया', 'मुझे लूट लिया' (ऐसा) जो (मनमें) बाँधते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता ।

४—अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥ ४ ॥
(अक्रोशीत् मां अवधीत् मां अजैषीत् मां अहार्षीत् मे ।
ये तत् नोपनह्यन्ति वैरं तेषूपशाम्यति ॥४॥)

अनुवाद——'मुझे गाली दिया'० (ऐसा) जो (मनमें) नहीं रखते उनका वैर शान्त हो जाता है ।

श्रावस्ती (जेतवन) काली (यक्खिनी)

५—न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ ५ ॥
(न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।
अवैरेण च शाम्यन्ति, एष धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥)

अनुवाद——यहाँ (संसारमें) वैरसे वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैर से ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म (=नियम) है ।

श्रावस्ती (जेतवन) कोसम्बक भिक्खू

६—परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे ।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ॥ ६ ॥
(परे च न विजानन्ति वयमत्र यंस्यामः ।
ये च तत्र विजानन्ति ततः शाम्यन्ति मेधगाः ॥ ६ ॥)

अनुवाद——अन्य (अज्ञ लोग) नहीं जानते, कि हम इस (संसार) से जानेवाले हैं । जो इसे जानते हैं, फिर (उनके) मनके (सभी विकार) शान्त हो जाते हैं ।

श्रावस्ती चुल्लकाल, महाकाल

७—सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं ।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं ।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं 'व दुब्बलं ॥७॥

(शुभमनुपश्यन्तं विहरन्तं इन्द्रियेषु असंवृतम् ।
भोजनेऽमात्रज्ञं कुसीदं हीनवीर्यम् ।
तं वै प्रसहति मारो वातो वृक्षमिव दुर्बलम् ॥ ७ ॥)

अनुवाद—(जो) शुभ ही शुभ देखते विहरता है, इन्द्रियोंमें संयम न करनेवाला होता है, भोजनमें मात्राको नहीं जानता आलसी और उद्योगहीन होता है; उसे मार (=मनकी दुष्प्रवृत्तियाँ) (वैसे ही) पीडित करता है, जैसे दुर्बल वृक्षको हवा ।

८—असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं ।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं ।
तं वे नप्पसहति मारो वातो सेलं 'व पब्बतं ॥८॥

(अशुभमनुपश्यन्तं विहरन्तं इन्द्रियेषु सुसंवृतम् ।
भोजने च मात्राज्ञं श्रद्धं आरब्धवीर्यम् ।
तं वै न प्रसहते मारो वातः शैलमिव पर्वतम् ॥ ८ ॥)

अनुवाद—जो अशुभ देखते विहरता, इन्द्रियोंको संयम करता, भोजनमें मात्राको जानता, श्रद्धावान् तथा उद्योगी है, उसे शिलामय पर्वतको जैसे वायु नहीं हिला सकता, (वैसेही) मार नहीं (हिला सकता) ।

श्रावस्ती (जेतवन) देवदत्त

९—अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति ।
अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति ॥९॥

(अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं परिधास्यति ।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति ॥ ९ ॥)

अनुवाद——जो (पुरुष) (राग, द्वेष आदि) कषायों (=मलों) को विना छोड़े काषाय वस्त्रको धारण करेगा, वह संयम-सत्यसे परे हटा हुआ (है), और (वह) काषाय (धारण) करनेका अधिकारी नहीं है ।

१०—यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो ।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति ॥१०॥

(यश्च वान्तकषायः स्यात् शीलेषु सुसमाहितः ।
उपेतो दम-सत्याभ्यां स वै काषायमर्हति ॥ १० ॥)

अनुवाद——जिसने कषायोंको वमन कर दिया है, जो आचार (=शील) से सुसम्पन्न, तथा संयम-सत्यसे संयुक्त है, वही काषाय (वस्त्र)का अधिकारी है ।

राजगृह (वेणुवन) संजय

११—असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥११॥

(असारे सारमतयः सारे चासारदर्शिनः ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिथ्यासङ्कल्पगोचराः ॥ ११ ॥)

अनुवाद—जो असारको सार समझते हैं, और सारको असार; वह झूठे संकल्पोंमें संलग्न (पुरुष) सारको नहीं प्राप्त करते हैं।

१२—सारञ्च च सारतो ञत्वा असारञ्च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्कप्पगोचरा ॥१२॥

(सारं च सारतो ज्ञात्वा, असारं च असारतः।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्यक्-सङ्कल्प-गोचराः ॥ १२ ॥)

अनुवाद—जो सारको सार जानते हैं, और असार को असार; वह सच्चे संकल्पमें संलग्न (पुरुष) सारको प्राप्त करते हैं।

श्रावस्ती (जेतवन) नन्द (थेर)

१३—यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥१३॥

(यथागारं दुश्छन्नं वृष्टिः समतिविध्यति।
एवं अभावितं चित्तं रागः समतिविध्यति ॥१३॥)

अनुवाद—जैसे ठीकसे न छाये घरमें वृष्टि घुस जाती है। वैसे ही अभावित (= न संयम किये) चित्तमें राग घुस जाता है।

१४—यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ॥१४॥

(यथागारं सुच्छन्नं वृष्टिर्न समतिविध्यति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविध्यति ॥ १४॥)

अनुवाद—जैसे ठीकसे छाये घरमें वृष्टि नहीं घुसती, वैसे ही सुभावित चित्तमें राग नहीं घुसता।

राजगृह (वेणुवन) चुन्द (सूकरिक)

१५—इध सोचति पेच्च सोचति
पापकारी उभयत्थ सोचति ।
सो सोचति सो विहञ्ञति
दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥ १५॥

(इह शोचति प्रेत्य शोचति पापकारी उभयत्र शोचति ।
स शोचति स विहन्यते दृष्ट्वा कर्म क्लिष्टमात्मनः ॥१५॥)

अनुवाद—यहाँ (इस लोकमें) शोक करता है, मरनेके बाद शोक करता है, पाप करनेवाला दोनों (लोक) में शोक करता है। वह अपने मलिन कर्मोंको देखकर शोक करता है, पीड़ित होता है।

श्रावस्ती (जेतवन) धर्म्मिक (उपासक)

१६—इध मोदति पेच्च मोदति
कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति ।
सो मोदति सो पमोदति
दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥ १६॥

(इह मोदते प्रेत्य मोदते कृतपुण्य उभयत्र मोदते ।
स मोदते स प्रमोदते दृष्ट्वा कर्मविशुद्धिमात्मनः ॥१६॥)

अनुवाद—यहाँ प्रमुदित होता है, मरनेके बाद प्रमुदित होता है, जिसने पुण्य किया है, वह दोनों ही जगह प्रमुदित होता, है। वह अपने कर्मोंकी शुद्धताको देखकर मुदित होता है, प्रमुदित होता है।

श्रावस्ती (जेतवन) देवदत्त

१७—इध तप्पति पेच्च तप्पति,
पापकारी उभयत्थ तप्पति ।
पापं मे कतन्ति तप्पति,
भीय्यो तप्पति दुग्गतिङ्गतो ॥ १७॥

(इह तप्यति प्रेत्य तप्यति पापकारी उभयत्र तप्यति ।
पापं मे कृतमिति तप्यति, भूयस्तप्यति दुर्गतिंगतः ॥१७॥)

अनुवाद—यहाँ संतप्त होता है, मरकर सन्तप्त होता है, पापकारी दोनों जगह सन्तप्त होता है । "मैंने पाप किया है"—यह (सोच) सन्तप्त होता है ; दुर्गतिको प्राप्त हो और भी सन्तप्त होता है ।

श्रावस्ती (जेतवन) सुमना देवी

१८—इध नन्दति पेच्च नन्दति,
कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति ।
पुञ्ञं मे कतन्ति नन्दति,
भीय्यो नन्दति सुगतिंगतः ॥ १८॥

(इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्य उभयत्र नन्दति ।
पुण्यं मे कृतमिति नन्दति, भूयो नन्दति सुगतिंगतः ॥१८॥)

अनुवाद—यहाँ आनन्दित होता है, मरकर आनन्दित होता है । जिसने पुण्य किया है, वह दोनों जगह आनन्दित होता है । "मैंने पुण्य किया है"—यह (सोच) आनन्दित होता है ; सुगतिको प्राप्त हो और भी आनन्दित होता है ।

श्रावस्ती (जेतवन) दो मित्र भिक्षु

१९—बहुंपि चे संहितं[1] भासमानो,
न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो 'व गावो गणयं परेसं,
न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥१९॥

(बह्वीमपि संहितां भाषमाणः,
न तत्करो भवति नरः प्रमत्तः।
गोप इव गा गणयन् परेषां,
न भागवान् श्रामण्यस्य भवति ॥१९॥

अनुवाद—चाहे कितनी ही संहिताओं (=धर्मग्रंथों) का उच्चारण करे, किन्तु प्रमादी बन (जो) नर उसके (अनुसार) (आचरण) करनेवाला नहीं होता; (वह) दूसरेकी गायोंको गिननेवाले ग्वालेकी भाँति श्रमणपन (=संन्यासीपन) का भागी नहीं होता।

२०—अप्पम्पि चे संहितं भासमानो,
धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं,
सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा,
स भागवा सामञ्ञस्स होति ॥२०॥

[1] संहितं।

(अल्पामपि संहितां भाषमाणो
धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी।
रागं च द्वेषं च प्रहाय मोहं
सम्यक् प्रजानन् सुविमुक्तचित्तः।
अनुपादान इह वाऽमुत्र वा,
स भागवान् श्रामण्यस्य भवति ॥२०॥)

अनुवाद—चाहे अल्पमात्र ही संहिताका भाषण करे, किन्तु यदि वह धर्मके अनुसार आचरण करनेवाला हो, राग, द्वेष, और मोहको त्यागकर, अच्छी प्रकार सचेत और अच्छी प्रकार मुक्तचित्त हो, यहाँ और वहाँ (दोनों जगह) बटोरनेवाला न हो; (तो) वह श्रमणपनका भागी होता है।

१—यमकवर्ग समाप्त

२—अप्पमादवग्गो

कौशाम्बी (घोषिताराम)　　　　　　　　सामावती (रानी)

२१—अप्पमादो अमत-पदं पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ॥ १ ॥

(अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम् ।
अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृताः ॥१॥)

२२—एतं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता ।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥ २ ॥

(एवं विशेषतो ज्ञात्वाऽप्रमादे, पण्डिताः ।
अप्रमादे प्रमोदन्त आर्याणां गोचरे रताः ॥२॥)

२३—ते झायिनो साततिका निच्चं दळ्ह-परक्कमा ।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं ॥ ३ ॥

(ते ध्यायिनः साततिका नित्त्यं दृढपराक्रमाः ।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं योगक्षेमं अनुत्तरम् ॥३॥)

अनुवाद——प्रमाद (=आलस्य) न करना अमृतपद है, और प्रमाद (करना) मृत्युपद। अप्रमादी (वैसे) नहीं मरते, जैसे कि प्रमादी मरते हैं। पंडित लोग अप्रमादके विषयमें इस प्रकार विशेषतः जान, आर्योंके आचरणमें रत हो, अप्रमादमें प्रमुदित होते हैं। (जो) वह निरन्तर ध्यानरत नित्य दृढ़ पराक्रमी हैं, वह धीर अनुपम योग-क्षेम (आनन्द मंगल) वाले निर्वाणको प्राप्त करते हैं।

राजगृह (वेणुवन) कुम्भघोसक

२४—उट्ठानवतो सतिमतो
सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो।
सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो
अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति ॥४॥

(उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशाम्य-कारिणः।
संयतस्य च धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोभिवर्द्धते ॥४॥)

अनुवाद——(जो) उद्योगी, सचेत, शुचि कर्मवाला, तथा सोचकर काम करनेवाला है, और संयत, धर्मानुसार जीविकावाला एवं अप्रमादी है, (उसका) यश बढ़ता है।

राजगृह (वेणुवन) चुल्लपन्थक (थेर)

२५—उट्ठानेन'प्पमादेन सञ्ञमेन दमेन च।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ॥५॥

(उत्थानेनाऽप्रमादेन संयमेन दमेन च।
द्वीपं कुर्यात् मेधावी यं ओघो नाभिकिरति ॥५॥)

अनुवाद—मेधावी (पुरुष) उद्योग, अप्रमाद, संयम, और दम द्वारा (अपने लिये ऐसा) द्वीप बनावें, जिसे बाढ़ नहीं डुबा सके।

जेतवन बालनक्खत्तवुट्ठ (होली)

२६—पमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना ।
अप्पमादञ्च मेधावी धनं सेट्ठं 'व रक्खति ॥६॥

(प्रमादमनुयुंजन्ति बाला दुर्मेधसो जनाः ।
अप्रमादं च मेधावी धनं श्रेष्ठमिव रक्षति ॥६॥)

अनुवाद—मूर्ख दुर्मेध जन प्रमादमें लगते हैं; मेधावी श्रेष्ठ धनकी भाँति अप्रमादकी रक्षा करता है।

२७—मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं ।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

(मा प्रमादमनुयुंजीत मा कामरतिसंस्तवम् ।
अप्रमत्तो हि ध्यायन् प्राप्नोति विपुलं सुखम् ॥७॥)

अनुवाद—मत प्रमादमें फँसो, मत कामोंमें रत होओ, मत कामरतिमें लिप्त हो। प्रमादरहित (पुरुष) ध्यान करते महान् सुखको प्राप्त होता है।

जेतवन महाकस्सप (थेर)

२८—पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो ।
पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं ।
पब्बतट्ठो 'व भूम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ॥८॥

(प्रमादमप्रमादेन यदा नुदति पण्डितः।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोकः शोकिनीं प्रजाम्।
पर्वतस्थ इव भूमिस्थान् धीरो बालान् अवेक्षते ॥८॥

अनुवाद—पंडित जब अप्रमादसे प्रमादको हटाता है, तो निःशोक हो शोकाकुल प्रजाको, प्रज्ञारूपी प्रासादपर चढ़कर—जैसे पर्वतपर खड़ा (पुरुष) भूमिपर स्थित (वस्तु) को देखता है—(वैसे ही) धीर (पुरुष) अज्ञानियोंको (देखता है)।

जेतवन दो मित्र भिक्षु

२९—अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं 'व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो ॥९॥

(अप्रमत्तः प्रमत्तेषु सुप्तेषु बहुजागरः।
अबलाश्वमिव शीघ्राश्वो हित्वा याति सुमेधाः ॥९॥

अनुवाद—प्रमादियोंके बीचमें अप्रमादी, सोतोंके बीचमें बहुत जागनेवाला, अच्छी बुद्धिवाला (पुरुष)—जैसे निर्बल घोड़ेको (पीछे) छोड़ शीघ्रगामी घोड़ा (आगे) चला जाता है—(वैसे ही जाता है)।

वैशाली (कूटागार) महाली

३०—अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ॥१०॥

(अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः।
अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा ॥१०॥)

अनुवाद—अप्रमाद (=आलस्य रहित होने)के कारण इन्द्र देवताओंमें श्रेष्ठ बना। अप्रमादकी प्रशंसा करते हैं, और प्रमादकी सदा निन्दा होती है।

जेतवन कोई भिक्षु

३१—अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
सञ्ञोजनं अणुं थूलं डहं अग्गीव गच्छति ॥११॥

(अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा।
संयोजनं अणुं स्थूलं दहन् अग्निरिव गच्छति ॥११॥)

अनुवाद—(जो) भिक्षु अप्रमादमें रत है, या प्रमादसे भय खानेवाला (है), (वह), आगकी भाँति छोटे मोटे बंधनोंको जलाते हुये जाता है।

जेतवन (निगम-वासी) तिस्स (थेर)

३२—अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहाणाय निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥१२॥

(अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा।
अभव्यः परिहाणाय निर्वाणस्यैव अन्तिके ॥१२॥)

अनुवाद—(जो) भिक्षु अप्रमादमें रत है, या प्रमादसे भय खानेवाला है, उसका पतन होना सम्भव नहीं, (वह) निर्वाणके समीप है।

२—अप्रमादवर्ग समाप्त

३—चित्तवग्गो

चालिय पर्वत　　　　　　　　　　　　　　मेघिय (थेर)

३३—फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं ।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो'व तेजनं ॥१॥

(स्पंदनं चपलं चित्तं दुरक्ष्यं दुर्निवार्यम् ।
ऋजुं करोति मेधावी इषुकार इव तेजनम् ॥ १ ॥)

अनुवाद—(इस) चंचल, चपल, दुर्-रक्ष्य, दुर्-निवार्य चित्तको मेधावी (पुरुष, इसी प्रकार) सीधा करता है, जैसे वाण बनानेवाला वाणको ।

३४—वारिजो'व थले खित्तो ओकमोकत उब्भतो ।
परिफन्दति'दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे ॥२॥

(वारिजं इव स्थले क्षिप्तं उदकौकत उद्भृतम् ।
परिस्पन्दत इदं चित्तं मारधेयं प्रहातुम् ॥ २ ॥)

अनुवाद—जैसे जलाशयसे निकालकर स्थलपर फेंक दी गई मछली (=वारिज) तड़फड़ाती है, (वैसे ही) मार (=राग,

द्वेष, मोह)के फन्देसे निकलनेके लिए यह चित्त (तड़फड़ाता है)।

श्रावस्ती कोई

३५—दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामनिपातिनो ।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥३॥
(दुर्निग्रहस्य लघुनो यत्र-काम-निपातिनः ।
चित्तस्य दमनं साधु, चित्तं दान्तं सुखावहम् ॥ ३ ॥)

अनुवाद—(जो) कठिनाईसे निग्रह योग्य, शीघ्रगामी, जहाँ चाहता है वहाँ चला जानेवाला है; (ऐसे) चित्तका दमन करना उत्तम है; दमन किया गया चित्त सुखप्रद होता है ।

श्रावस्ती कोई उत्कण्ठित भिक्षु

३६—सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थ कामनिपातिनं ।
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥४॥
(सुदुर्दर्शं सुनिपुणं यत्र-कामनिपाति ।
चित्तं रक्षेत् मेधावी, चित्तं गुप्तं सुखावहम् ॥ ४ ॥)

अनुवाद—कठिनाईसे जानने योग्य, अत्यन्त चालाक, जहाँ चाहे वहाँ ले जानेवाले चित्तकी, बुद्धिमान् रक्षा करे; सुरक्षित चित्त सुखप्रद होता है ।

श्रावस्ती संघरक्खित (थेर)

३७—दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं ।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥५॥

(दूरंगमं एकचरं अशरीरं गुहाशयम् ।
ये चित्तं संयंस्यन्ति मुच्यन्ते मारबन्धनात् ॥ ५ ॥)

अनुवाद—दूरगामी, अकेला विचरनेवाले, निराकार, गुहाशायी (इस) चित्तका, जो संयम करेंगे, वही मारके बन्धनसे मुक्त होंगे ।

श्रावस्ती चित्तहत्थ (थेर)

३८—अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो ।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥६॥

(अनवस्थितचित्तस्य सद्धर्म्मं अविजानतः ।
परिप्लवप्रसादस्य प्रज्ञा न परिपूर्यते ॥ ६ ॥)

अनुवाद—जिसका चित्त अवस्थित नहीं, जो सच्चे धर्मको नहीं जानता, जिसका (चित्त) प्रसन्नताहीन है, उसे प्रज्ञा (=परम ज्ञान) नहीं मिल सकता ।

३९—अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो ।
पुञ्ञपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥७॥

(अनवस्रुतचित्तस्य अनन्वाहतचेतसः ।
पुण्यपापप्रहीणस्य नास्ति जाग्रतो भयम् ॥ ७ ॥)

अनुवाद—जिसका चित्त मलरहित है, जिसका मन अकम्प्य है, जो पाप-पुण्य-विहीन है, उस सजग रहनेवाले (पुरुष) केलिये भय नहीं ।

श्रावस्ती पाँच सौ विपश्यक भिक्षु

४०—कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा
नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा ।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन
जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया ॥८॥

(कुम्भोपमं कायमिमं विदित्वा
नगरोपमं चित्तमिदं स्थापयित्वा ।
युध्येत मारं प्रज्ञायुधेन जितं
च रक्षेत् अनिवेशनः स्यात् ॥ ८ ॥)

अनुवाद——इस शरीरको घड़ेके समान (भंगुर) जान, इस चित्तको गढ़ (=नगर)के, समान कायम कर, प्रज्ञारूपी हथियारसे मारसे युद्ध करे। जीतनेके बाद (अपनी) रक्षा करे, (तथा) आसक्तिरहित होवे ।

श्रावस्ती पूतिगत्त तिस्स (थेर)

४१—अचिरं वत'यं कायो पठविं अधिसेस्सति ।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं 'व कलिङ्गरं ॥९॥

(अचिरं वतायं कायः पृथिवीं अधिशेष्यते ।
क्षुद्रोऽपेतविज्ञानो निरर्थं इव कलिङ्गरम् ॥ ९ ॥)

अनुवाद——अहो ! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनारहित हो निरर्थक काठकी भाँति पृथिवीपर पड़ा रहेगा ।

अनुवाद—शैक्ष[1] देवताओं सहित इस यमलोक और पृथिवीको विजय करेगा। चतुर शैक्ष सुन्दर प्रकारसे उपदिष्ट धर्मके पदोंको पुष्पकी भाँति चयन करेगा।

श्रावस्ती मरीचि (कम्मट्ठानिक थेर)

४६—फेणूपमं कायमिमं विदित्वा
मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो ;
छेत्वान मारस्य पपुप्फकानि
अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥३॥

(फेनोपमं कायमिमं विदित्वा
मरीचिधर्म्मं अभिसम्बुधानः।
छित्वा मारस्य प्रपुष्पकाणि
अदर्शनं मृत्युराजस्य गच्छेत् ॥ ३ ॥)

अनुवाद—इस कायाको फेनके समान जान, या (मरु-) मरीचिका के समान मान, फन्देको तोड़कर, यमराजको फिर न देखनेवाले बनो।

श्रावस्ती विदूडभ

४७—पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरम्।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चू आदाय गच्छति ॥४॥

---

[1] निर्वाणके मार्गपर जो इस प्रकार आरूढ हो गये हैं, कि फिर उनका उससे पतन नहीं हो सकता, ऐसे पुरुषको शैक्ष कहते हैं। उनके तीन भेद हैं—स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी।

(पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं ग्रामं महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥ ४ ॥

अनुवाद—(राग आदिके) फूलोंको चुननेवाले आसक्तियुक्त मनुष्य-को मृत्यु (वैसे ही) पकड़ ले जाती है, जैसे सोये गाँवको बड़ी बाढ़ ।

श्रावस्ती पतिपूजिका

४८—पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं ॥५॥

(पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम्
अतृप्तं एव कामेषु अन्तकः कुरुते वशम् ॥ ५ ॥)

अनुवाद—(राग आदि) फूलोंको चुनते आसक्तियुक्त पुरुषको, (जब कि अभी उसने) कामोंमें तृप्ति नहीं प्राप्त की (तभी) यम (अपने) वशमें कर लेता है ।

श्रावस्ती (कजूस) कोसिय सेठ

४९—यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं ।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥६॥

(यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धं अघ्नन् ।
पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिश्चरेत ॥ ६ ॥)

अनुवाद—जिस प्रकार भ्रमर फूलके वर्ण और गंधको बिना हानि पहुँचाये, रसको लेकर चल देता है, वैसे ही गाँवमें मुनि विचरण करे ।

श्रावस्ती पाठिक (आजीवक साधु)

५०—न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं ।
अत्तनो'व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च ॥७॥

(न परेषां विलोमानि न परेषां कृताकृतम् ।
आत्मन एव अवेक्षेत कृतानि अकृतानि च ॥ ७ ॥)

अनुवाद—न दूसरोंके विरोधी (काम) करे, न दूसरोंके कृत-अकृत-के खोजमें रहे, (आदमीको चाहिये कि वह) अपने ही कृत (=किये) और अकृत (=न किये) की (खोज करे) ।

श्रावस्ती छत्तपाणि (उपासक)

५१—यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं ।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥८॥

(यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवद् अगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाक् अफला भवति अकुर्वतः ॥ ८ ॥)

अनुवाद—जैसे रुचिर और वर्णयुक्त (किन्तु) गंधरहित फूल है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण न करनेवालेकी सुभाषित वाणी भी निष्फल है ।

५२—यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं ।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति कुब्बतो ॥९॥

(यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवत् सगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः ॥ ९ ॥)

अनुवाद—जैसे रुचिर वर्णयुक्त और गन्धसहित फूल होता है, वैसे ही (वचनके अनुसार काम) करनेवालेकी सुभाषित वाणी सफल होती है।

श्रावस्ती पूर्वाराम विशाखा (उपासिका)

५३—यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥१०॥

(यथापि पुष्पराशेः कुर्यात् मालागुणान् बहून्।
एवं जातेन मर्त्येन कर्त्तव्यं कुशलं बहु ॥ १० ॥)

अनुवाद—जिस प्रकार पुष्पराशिसे बहुतसी मालायें बनाये, उसी प्रकार उत्पन्न हुये प्राणीको चाहिये कि वह बहुतसे भले (कर्मोंको) करे।

श्रावस्ती आनन्द (थेर)

५४—न पुप्फगन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥११॥

(न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति
न चन्दनं तगर-मल्लिके वा।
सतां च गन्धः प्रतिवातमेति
सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति ॥११॥)

अनुवाद——फूलकी सुगंध हवासे उलटी ओर नहीं जाती, न चन्दन, तगर या चमेली (की गंध ही वैसा करती है); किन्तु सज्जनोंकी सुगंध हवासे उलटी ओर जाती है, सत्पुरुष सभी दिशाओंमें (सुगंध) बहाते हैं।

५५—चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१२॥

(चन्दनं तगरं वापि उत्पलं अथ वार्षिकी।
एतेषां गन्धजातानां शीलगन्धोऽनुत्तरः ॥१२॥)

अनुवाद——चन्दन या तगर, कमल या जूही, इन सभी (की) सुगंधोंसे सदाचारकी सुगंध उत्तम है।

राजगृह (वेणुवन) महाकस्सप

५६—अप्पमत्तो अयं गन्धो या'यं तगरचन्दनी।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो ॥१३॥

(अल्पमात्रोऽयं गन्धो योऽयं तगरचन्दनी।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु उत्तमः ॥१३॥)

अनुवाद——तगर और चन्दनकी जो यह गंध फैलती है, वह अल्पमात्र है; और जो यह सदाचारियोंकी गंध है, (वह) उत्तम (गंध) देवताओंमें फैलती है।

राजगृह (वेणुवन) गोधिक (थेर)

५७—तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञाविमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति ॥१४॥

(तेषां सम्पन्नशीलानां अप्रमाद-विहारिणम्।
सम्यग्-ज्ञा-विमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति ॥१४॥)

अनुवाद—(जो) वे सदाचारी निरालस हो विहरनेवाले, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त (हो गये हैं), (उनके) मार्गको मार नहीं पकड़ सकता।

जेतवन गरहादिन्न

५८—यथा संकारधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे।
पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं ॥ १५॥

(यथा संकारधाने उज्झिते महापथे।
पद्म तत्र जायेत शुचिगन्धं मनोरमम् ॥१५॥)

५९—एवं संकारभूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने।
अतिरोचति पञ्ञाय सम्मासम्बुद्धसावको ॥ १६॥

(एवं संकारभूते अन्धभूते पृथग्जने।
अतिरोचते प्रज्ञया सम्यक्-संबुद्ध-श्रावकः ॥१६॥)

अनुवाद—जैसे महापथपर फेंके कूड़ेके ढेरपर मनोरम, शुचिगंध, गुलाब (=पद्म) उत्पन्न होवे, इसी प्रकार कूड़े समान अन्धे अज्ञजनों (=पृथग्-जनों) में सम्यक्-संबुद्ध (=यथार्थ ज्ञानी) का अनुगामी (अपनी) प्रज्ञासे प्रकाशमान होता है।

४—पुष्पवर्ग समाप्त

५—बालवग्गो

श्रावस्ती (जेतवन) दरिद्र सेवक

६०—दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं ।
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं ॥१॥

(दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्मं अविजानताम् ॥१॥)

अनुवाद—जगतेको रात लम्बी होती है, थकेके लिये योजन लम्बा होता है, सच्चे धर्मको न जाननेवाले मूढ़ोंके लिये संसार (=आवागमन) लम्बा है ।

राजगृह सार्द्धविहारी (=शिष्य)

६१—चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो ।
एकचरियं दळ्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता ॥२॥

(चरन् चेत् नाधिगच्छेत् श्रेयांसं सदृशं आत्मनः ।
एकचर्यां दृढं कुर्यात् नास्ति बाले सहायता ॥२॥)

अनुवाद—यदि विचरण करते अपने अनुरूप भलेमानुषको न पाये, तो दृढ़ताके साथ अकेला ही विचरे, मूढ़से मित्रता नहीं निभ सकती।

श्रावस्ती आनन्द (सेठ)

६२—पुत्ता म'त्थि धनम्म'त्थि इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्तो कुतो धनं ॥३॥

(पुत्रा मे सन्ति धनं मेऽस्ति इति बालो विहन्यते।
आत्मा हि आत्मनो नास्ति कुतः पुत्रः कुतो धनम् ॥३॥)

अनुवाद—"पुत्र मेरा है", "धन मेरा है" ऐसा (करके) अज्ञ (नर) उत्पीड़ित होता है, जब आत्मा (= शरीर) ही अपना नहीं, तो कहाँसे पुत्र और धन (अपना होगा)।

जेतवन गिरहकट चोर

६३—यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो चापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो'ति वुच्चति ॥४॥

(यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितश्चापि तेन सः।
बालश्च पंडितमानी स, वै बाल इत्युच्यते ॥४॥)

अनुवाद—जो (कि वह) अज्ञ होकर (अपनी) अज्ञताको जानता है, इस (अंश) से वह पंडित (= जानकार) है। वस्तुतः अज्ञ होकर भी जो पंडित होनेका दम भरता है, वही अज्ञ (=बाल) कहा जाता है।

श्रावस्ती (जेतवन)　　　　उदायी (थेर)

६४—यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति ।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥५॥
(यावज्जीवमपि चेद् बालः पंडितं पर्युपास्ते ।
न स धर्मं विजानाति दर्वी सूपरसं यथा ॥५॥)

अनुवाद——चाहे बाल (=जड; अज्ञ) जीवन भर पंडितकी सेवामें रहे (तो भी) वह धर्मको (वैसे ही) नहीं जान सकता, जैसे कि कलछी (= दब्बी = दवली) सूप (= दाल आदि) के रसको ।

श्रावस्ती (जेतवन)　　　　भद्रवर्गीय (भिक्षुलोग)

६५—मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति ।
खिप्पं धम्मं विजानाति जिव्हा सूपरसं यथा ॥६॥
(मुहूर्त्तमपि चेद् विज्ञः पंडितं पर्युपास्ते ।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा ॥६॥)

अनुवाद——चाहे विज्ञ (पुरुष) एक मुहूर्त ही पंडितकी सेवामें रहे, (तो भी वह) शीघ्र ही धर्मको जान सकता है, जैसे कि जिह्वा सूपके रसको ।

राजगृह (वेणुवन)　　　　सुप्पबुद्ध (कोढी)

६६—चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना ।
करोन्तो पापकं कम्मं यं होति कटुकप्फलं ॥७॥
(चिरन्ति बाला दुर्मेधसोऽमित्रेणैवात्मना ।
कुर्वन्तः पापकं कर्म यद् भवति कटुकफलम् ॥७॥)

अनुवाद—पाप कर्मको—जो कि कटु फल देनेवाला होता है—करते दुष्ट बुद्धि अज्ञ (जन) अपने ही अपने शत्रु बनते हैं।

जेतवन कोई कस्सप

६७—न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ॥८॥
(न तत् कर्म कृतं साधु यत् कृत्वाऽनुतप्यते।
यस्याश्रुमुखो रुदन् विपाकं प्रतिसेवते ॥८॥)

अनुवाद—उस कामका करना ठीक नहीं, जिसे करके (पीछे) अनुताप करना पड़े, और जिसके फलको अश्रुमुख रोते भोगना पड़े।

(वेणुवन) सुमन (माली)

६८—तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥९॥
(तच्च कर्म कृतं साधु यत् कृत्वा नानुतप्यते।
यस्य प्रतीतः सुमना विपाकं प्रतिसेवते ॥९॥)

अनुवाद—उसी कामका करना ठीक है, जिसे करके अनुताप करना (= पछताना) न पड़े, और जिसके फलको प्रसन्न मनसे भोग करे।

जेतवन उप्पलवण्णा (थेरी)

६९—मधू'व मञ्ञति बालो याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चती पापं अथ दुक्खं निगच्छति ॥१०॥

(मध्विव मन्यते बालो यावत् पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापं अथ दुःखं निगच्छति ॥१०॥)

अनुवाद—अज्ञ (जन) जब तक पापका परिपाक नहीं होता, तब तक उसे मधुके समान जानता है। जब पापका परिपाक होता है, तो दुखी होता है।

राजगृह (वेणुवन) जम्बुक (आजीवक साधु)

७०—मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेय भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं ॥११॥

(मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुंजीत भोजनम्।
न स संख्यातधर्माणां कलामर्हति षोडशीम् ॥११॥)

अनुवाद—यदि अज्ञ (पुरुष) कुशकी नोकसे महीने महीनेपर खाना खाये, तो भी धर्मके जानकारोंके सोलहवें भागके भी बराबर (वह तृप्त) नहीं हो सकता।

राजगृह (वेणुवन) अहिप्रेत

७१—न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं 'व मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति भस्माच्छन्नो 'व पावको ॥१२॥

(नहि पापं कृतं कर्म सद्यः क्षीरमिव मुंचति।
दहन् बालमन्वेति भस्माच्छन्न इव पावकः ॥१२॥)

अनुवाद—ताजे दूधकी भाँति किया पाप कर्म, (तुरन्त) विकार नहीं लाता, वह भस्मसे ढँकी आगकी भाँति दग्ध करता अज्ञजनका पीछा करता है।

राजगृह (वेणुवन) सट्ठिकूट (पेत)

७२—यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति ।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ॥ १३॥

(यावदेव अनर्थाय ज्ञप्तं बालस्य जायते ।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं मूर्धानमस्य विपातयन् ॥१३॥)

अनुवाद—मूढ़ (=बाल) का जितना भी ज्ञान है, (वह उसके) अनर्थके लिये होता है । वह उसकी मूर्धा (=शिर=प्रज्ञा) को गिराकर उसके शुक्ल (=धवल=शुद्ध) अंशका विनाश करता है ।

जेतवन सुधम्म (थेर)

७३—असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु ।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च ॥ १४॥

(असद् भावनमिच्छेत् पुरस्कारं च भिक्षुषु ।
आवासेषु चैश्वर्यं पूजा परकुलेषु च ॥१४॥)

७४—ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो ।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि ।
इति बालस्स सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ॥ १५॥

(ममैव कृतं मन्येतां गृहि-प्रव्रजितावुभौ ।
ममैवातिवशाः स्यातां कृत्याकृत्येषु केषु चित् ।
इति बालस्य संकल्प इच्छा मानश्च वर्द्धते ॥१५॥)

अनुवाद—अप्रस्तुत वस्तुकी चाह करता है, भिक्षुओंमें बड़ा बनना

(चाहना है), मठों (और निवासों) में स्वामीपन (=ऐश्वर्य) और दूसरे कुलोंमें पूजा (चाहना है) । गृहस्थ और संन्यासी दोनों मेरे ही कियेको मानें, किसी भी कृत्य-अकृत्यमें मेरे ही वशवर्ती हों—ऐसा मूढ़का संकल्प होता है, (जिससे उसकी) इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं ।

श्रावस्ती (जेतवन) (वनवासी) तिस्स (थेर)

७५—अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान-गामिनी ।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खू बुद्धस्स सावको ॥
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ॥१६॥

(अन्या हि लाभोपनिषद् अन्या निर्वाणगामिनी ।
एवमेतद् अभिज्ञाय भिक्षुर्बुद्धस्य श्रावकः ।
सत्कारं नाभिनन्देत् विवेकमनुबृंहयेत् ॥१६॥)

अनुवाद—लाभका रास्ता दूसरा है, और निर्वाणको लेजानेवाला दूसरा—इस प्रकार इसे जानकर बुद्धका अनुगामी भिक्षु सत्कारका अभिनन्दन न करे, और विवेक (=एकान्तचर्या) को बढ़ावे ।

५—बालवर्ग समाप्त

६—पण्डितवग्गो

जेतवन — राध (थेर)

७६—निधीनं'व पवत्तारं यं पस्से वज्ज-दस्सिनं ।
निग्गय्हवादिं मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे ।
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो ॥ १ ॥

(निधीनामिव प्रवक्तारं यं पश्येत् वर्ज्यदर्शिनम् ।
निगृह्यवादिनं, मेधाविनं तादृशं पंडितं भजेत् ।
तादृशं भजमानस्य श्रेयो भवति न पापीयः ॥ १ ॥)

अनुवाद—(भूमिमें गुप्त) निधियोंके बतलानेवालेकी तरह, बुराईको दिखलानेवाले ऐसे संयमवादी, मेधावी पंडितकी सेवा करे। ऐसेके सेवन करनेवालेका कल्याण होता है, अमंगल नहीं (होता)।

जेतवन — अस्सजी, पुनब्बसू

७७—ओवदेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये ।
सतं हि सो पियो होति असतं होति अप्पियो ॥ २ ॥

(अववदेदनुशिष्यात् असभ्याच्च निवारयेत् ।
सतां हि स प्रियो भवति असतां भवत्यप्रियः ॥ २ ॥)

अनुवाद——(जो) सदुपदेश देता है, अनुशासन करता है, नीच कर्म-से निवारण करता है, वह सत्पुरुषोंको प्रिय होता है, और असत्पुरुषोंको अप्रिय ।

जेतवन छन्न (थेर)

७८—न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे ।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे ॥ ३ ॥

(न भजेत् पापानि मित्राणि न भजेत् पुरुषाधमान् ।
भजेत् मित्राणि कल्याणानि भजेत् पुरुषानुत्तमान् ॥३॥

अनुवाद——दुष्ट मित्रोंका सेवन न करे, न अधम पुरुषोंका सेवन करे । अच्छे मित्रोंका सेवन करे, उत्तम पुरुषोंका सेवन करे ।

जेतवन महाकप्पिन (थेर)

७९—धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा ।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो ॥ ४ ॥

(धर्मपीतीः सुखं शेते विप्रसन्नेन चेतसा ।
आर्यप्रवेदित्ते धर्मे सदा रमते पंडितः ॥४॥)

अनुवाद——धर्म(-रस)का पान करनेवाला प्रसन्न-चित्तहो सुखपूर्वक सोता है; पंडित (जन) आर्योंके जतलाये धर्ममें सदा रमण करते हैं ।

जेतवन　　　　पण्डित सामणेर

८०—उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
　　उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका
　　अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥५॥

(उदकं हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः ॥५॥)

अनुवाद—नहरवाले पानीको लेजाते हैं, बाण बनानेवाले बाणको ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ीको ठीक करते हैं; और पंडित (जन) अपना दमन करते हैं।

जेतवन　　　　भद्दिय (थेर)

८१—सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
　　एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥६॥

(शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते।
एवं निन्दाप्रशंसासु न समीर्यन्ते पण्डिताः ॥६॥)

अनुवाद—जैसे ठोस पहाड़ हवासे कंपायमान नहीं होता; ऐसे ही पंडित निन्दा और प्रशंसासे विचलित नहीं होते।

जेतवन　　　　काण-माता

८२—यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
　　एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥७॥

(यथापि ह्रदो गम्भीरो विप्रसन्नोऽनाविलः ।
एवं धर्मान् श्रुत्वा विप्रसीदन्ति पण्डिताः ॥७॥)

अनुवाद—धर्मोंको सुनकर पण्डित (जन) अथाह, स्वच्छ, निर्मल सरोवरकी भाँति स्वच्छ (सन्तुष्ट) होते हैं।

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

८३—सब्बत्थ वे सप्पुरिसा वजन्ति
न कामकामा लपयन्ति सन्तो ।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥८॥

(सर्वत्र वै सत्पुरुषा व्रजन्ति न कामकामा लपन्ति सन्तः ।
सुखेन स्पृष्टा अथवा दुःखेन नोच्चावचं पण्डिता दर्शयन्ति॥८॥

अनुवाद—सत्पुरुष सभी जगह जाते हैं, (वह) भोगोंके लिए बात नहीं चलाते; सुख मिले या दुःख, पंडित (जन) विकार नहीं प्रदर्शन करते।

जेतवन धम्मिक (थेर)

८४—न अत्तहेतू न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं ।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया ॥९॥

(नात्महेतोः न परस्य हेतोः
न पुत्रमिच्छेत् न धनं न राष्ट्रम् ।
नेच्छेद् अधर्मेण समृद्धिमात्मनः
स शीलवान प्रज्ञावान् धार्मिकः स्यात् ॥९॥)

अनुवाद—जो अपने लिए या दूसरेके लिये पुत्र, धन, और राज्य नहीं चाहते, न अधर्मसे अपनी उन्नति चाहते हैं; वही सदाचारी (शीलवान्) प्रज्ञावान और धार्मिक हैं ।

जेतवन धर्मश्रवण

८५—अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥१०॥

(अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः ।
अथेमा इतराः प्रजाः तीरमेवानुधावति ॥१०॥)

८६—ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो ।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥११॥

(ये च खलु सम्यगाख्याते धर्मे धर्मानुवर्तिनः ।
ते जनाः पारमेष्यन्ति मृत्युधेयं सुदुस्तरम् ॥११॥)

अनुवाद—मनुष्योंमें पार जानेवाले जन विरले ही हैं, यह दूसरे लोग तो तीरे ही तीरे दौड़नेवाले हैं । जो सुव्याख्यात धर्म-का अनुगमन करते हैं, वह मृत्युगृहीत अतिदुस्तर (संसार-सागर) को पार करेंगे ।

जेतवन पाँच सौ नवागत भिक्षु

८७—कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो ।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ॥ १२ ॥
(कृष्णं धर्मं विप्रहाय शुक्लं भावयेत् पण्डितः ।
ओकात् अनोकं आगम्य विवेके यत्र दूरमम् ॥१२॥)

८८—तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो ।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥ १३ ॥
(तत्राभिरतिमिच्छेत् हित्वा कामान् अकिंचनः ।
पर्यवदापयेत् आत्मानं चित्तक्लेशैः पण्डितः ॥१३॥)

अनुवाद—काले धर्म (=पाप)को छोड़कर, पण्डित (जन) शुक्ल (-धर्म) का आचरण करें । घरसे बेघर हो दूर जा विवेक (=एकान्त) का सेवन करें । भोगोंको छोड़, सर्वस्वत्यागी हो वहीं रत रहनेकी इच्छा करें । पण्डित (जन) चित्त-के मलोंसे अपनेको परिशुद्ध करें ।

८९—येसं सम्बोधि-अङ्गेसु सम्मा चित्तं सुभावितं ।
आदान-पटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता ।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥ १४ ॥
(येषां सम्बोध्यंगेषु सम्यक् चित्तं सुभावितम् ।
आदानप्रतिनिःसर्गे अनुपादाय ये रताः ।
क्षीणास्रवा ज्योतिष्मन्तस्ते लोके परिनिर्वृताः ॥१४॥)

अनुवाद—संबोधि(=परम ज्ञान)के अंगों(=संबोध्यंगों)में जिनका चित्त भली प्रकार परिभावित (=संस्कृत,) हो गया है;

जो परिग्रहके परित्यागपूर्वक अनासक्तिमें रत हैं। ऐसे, जिनके मलोंसे विमुक्त (=क्षीणास्रव), द्युतिमान् (पुरुष) लोकमें निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं।

६—पण्डितवग्गो समाप्त

७—अर्हन्तवग्गो

राजगृह (जीवकका आम्रवन) जीवक

९०—गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्थप्पहीणस्स परिलाहो न विज्जति ॥१॥

(गताध्वनो विशोकस्य विप्रमुक्तस्य सर्वथा ।
सर्वग्रन्थप्रहीणस्य परिदाहो न विद्यते ॥१॥)

अनुवाद—जिसका मार्ग(-गमन) समाप्त हो चुका है, जो शोक-रहित तथा सर्वथा मुक्त है; जिसकी सभी ग्रंथियाँ क्षीण हो गई हैं ; उसके लिये सन्ताप नहीं है ।

राजगृह (वेणुवन) महाकस्सप

९१—उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते ।
हंसा 'व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ॥२॥

(उद्युंजते स्मृतिमन्तो न निकेते रमन्ते ते ।
हंसा इव पल्वलं हित्वा ओकमोकं जहति ते ॥२॥)

अनुवाद—सचेत हो वह उद्योग करते हैं, (गृह-)सुख में रमण नहीं करते, हंस जैसे क्षुद्र जलाशयको छोड़कर चले जाते हैं, (वैसे ही वह अर्हत्) गृहको छोड़ जाते हैं।

जेतवन　　वेलट्ठि सीस

९२—येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे 'व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ॥३॥
(येषां सन्निचयो नास्ति ये परिज्ञातभोजनाः ।
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां गतिः तेषां दुरन्वया ॥३॥)

अनुवाद—जो (वस्तुओंका) संचय नहीं करते, जिनका भोजन नियत है, शून्यता-स्वरूप तथा कारण-रहित मोक्ष (=निर्वाण) जिनको दिखाई पड़ता है; उनकी गति (=गन्तव्य स्थान) आकाशमें पक्षियोंकी (गतिकी) भाँति अज्ञेय है।

राजगृह (वेणुवन)　　अनुरुद्ध (थेर)

९३—यस्सा'सवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे 'व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नयं ॥४॥
(यस्यास्रवाः परिक्षीणा आहारे च अनिःसृतः ।
शून्यतोऽनिमितश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां पदं तस्य दुरन्वयम् ॥४॥)

अनुवाद——जिसके आस्रव (=मल) क्षीण हो गये, जो आहारमें परतंत्र नहीं, जो शून्यता रूप० ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) महाकच्चायन

९४—यस्सिन्द्रियाणि समथं गतानि,
अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीनमानस्स अनासवस्स,
देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥५॥

(यस्येन्द्रियाणि शमतां गतानि
अश्वा यथा सारथिना सुदान्ताः ।
प्रहीणमानस्य अनास्रवस्य देवा
अपि तस्य स्पृहयन्ति तादृशः ॥५॥)

अनुवाद——सारथीद्वारा सुदान्त (=सुशिक्षित) अश्वोंकी भाँति जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हैं, जिसका अभिमान नष्ट हो गया, (और) जो आस्रवरहित है, ऐसे उस (पुरुष)की देवता भी स्पृहा करते हैं ।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

९५—पठवीसमो नो विरुज्झति
इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो ।
रहदो 'व अपेतकद्दमो
संसारा न भवन्ति तादिनो ॥६॥

(पृथिवीसमो न विरुध्यते इन्द्रकीलोपमस्तादृक् सुव्रतः ।
ह्रद इवापेतकर्दमः संसारा न भवन्ति तादृशः ॥६॥)

अनुवाद—जैसा सुन्दर व्रतधारी इन्द्रकीलके समान (अचल) तथा पृथिवीके समान जो क्षुब्ध नहीं होता; ऐसे (पुरुष)में कर्दमरहित सरोवरकी भाँति संसार (-मल) नहीं रहता ।

जेतवन कोसम्बिभासित तिस्स (थेर)

९६—सन्तं अस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्मञ्च ।
सम्मदञ्ञाविमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो ॥७॥

(शान्तं तस्य मनो भवति शान्ता वाक् च कर्म च ।
सम्यगाज्ञाविमुक्तस्य उपशान्तस्य तादृशः ॥७॥)

अनुवाद—उपशान्त और यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्त हुये उस (अर्हत् पुरुष) का मन शान्त होता है, वाणी और कर्म शान्त होते हैं ।

जेतवन सारिपुत्र (थेर)

९७—अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो ।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ॥८॥

(अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः ।
हतावकाशो वान्ताशः स वै उत्तम पुरुषः ॥८॥)

अनुवाद—जो (मूढ़-) श्रद्धारहित, अकृत (=बिना बनाये=निर्वाण)-ज्ञ, (संसारकी) संधिका छेदन करनेवाला, अवकाशरहित,

(विषय-) भोगको वमनकर दिया जो नर है, वही उत्तम पुरुष है।

जेतवन (खदिरवनी) रेवत (थेर)

९८—गामे वा यदि वा'रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ॥९॥

(ग्रामे वा यदि वाऽऽरण्ये निम्ने वा यदि वा स्थले।
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमी रमणीया ॥ ९ ॥)

अनुवाद—गाँवमें या जंगलमें, निम्न या (ऊँचे) स्थलमें जहाँ (कहीं) अर्हत् (लोग) विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।

जेतवन आरण्यक भिक्षु

९९—रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमते जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो ॥१०॥

(रमणीयान्यारण्यानि यत्र न रमते जनः।
वीतरागा रंस्यन्ते न ते कामगवेषिणः ॥ १० ॥)

अनुवाद—(वह) रमणीय वन, जहाँ (साधारण) जन रमण नहीं करते, काम(भोगों)के पीछे न भटकनेवाले वीतराग (वहाँ) रमण करेंगे।

७—अर्हद्वर्ग समाप्त

८—सहस्सवग्गो

वेणुवन — तम्बदाठिक (चोरघातक)

१००—सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥१॥

(सहस्रमपि चेद् वाचः अनर्थपदसंहिताः ।
एकमर्थपदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति ॥ १ ॥)

अनुवाद——व्यर्थके पदोंसे युक्त सहस्रों वाक्योंसे भी (वह) सार्थक एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति होती है ।

जेतवन — दारुचीरिय (थेर)

१०१—सहस्समपि च गाथा अनत्थपदसंहिता ।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥२॥

(सहस्रमपि चेद् गाथा अनर्थपदसंहिताः ।
एकं गाथापदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति ॥ २ ॥)

अनुवाद——व्यर्थके पदोंसे युक्त हज़ार गाथाओंसे भी एक गाथापद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर० ।

जेतवन कुण्डलकेसी (थेरी)

१०२—यो च गाथा सतं भासे अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥३॥
(यश्च गाथाशतं भाषेतानर्थपदसंहितम् ।
एकं धर्मपदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति ॥ ३ ॥)

१०३—यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ॥४॥
(यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत् ।
एकं च जयेद् आत्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥ ४ ॥)

अनुवाद—जो व्यर्थके पदोंसे युक्त सौ गाथायें भी भाषे (उससे) धर्मका एक पद भी श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर ० ॥ संग्राममें जो हज़ारों हज़ार मनुष्योंको जीत ले, (उससे कहीं अच्छा) एक अपनेको जीतनेवाला उत्तम संग्रामजित् है ।

जेतवन अनर्थ-पुच्छक ब्राह्मण

१०४—अत्ता ह वे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा ।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥५॥
(आत्मा ह वै जितः श्रेयान् या चेयमितराः प्रजा ।
दान्तात्मनः पुरुषस्य नित्यं संयतचारिणः ॥ ५ ॥)

१०५—नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना ।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

(नैव देवो न गन्धर्वो न मारः सह ब्रह्मणा ।
जितं अपजितं कुर्यात् तथारूपस्य जन्तोः ॥ ६ ॥

अनुवाद—इन अन्य प्रजाओंके जीतनेकी अपेक्षा अपनेको जीतना श्रेष्ठ है। अपनेको दमन करनेवाला, नित्य अपनेको संयम करनेवाला जो पुरुष है। इस प्रकारके प्राणीके जीतको, न देवता, न गन्धर्व, न ब्रह्मा सहित मार, बेजीता कर सकते हैं।

वेणुवन सारिपुत्तके मामा

१०६—मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं ।
एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥
(मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतं समान् ।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत् ।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥ ७ ॥)

अनुवाद—सहस्र(-दक्षिणा यज्ञ)से जो महीने महीने सौ वर्ष तक यजन करे, और यदि परिशुद्ध मनवाले एक (पुरुष) को एक मुहूर्त ही पूजे ; तो सौ वर्षके हवनसे यह पूजा ही श्रेष्ठ है।

वेणुवन सारिपुत्तका भांजा

१०७—यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने ।
एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

(यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने ।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत् ।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥ ८ ॥)

अनुवाद—यदि प्राणी सौ वर्ष तक वनमें अग्निपरिचरण (=अग्नि-होत्र) करे, और यदि० ।

वेणुवन सारिपुत्रका मित्र ब्राह्मण

१०८—यं किञ्चि यिट्ठं च हुतं च लोके,
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो ।
सब्बम्पि तं न चतुभागमेति,
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥९॥

(यत् किंचिद् इष्टं च हुतं च लोके,
संवत्सरं यजेत पुण्यापेक्षः ।
सर्वमपि तत् न चतुर्भागमेति,
अभिवादना ऋजुगतेषु श्रेयसी ॥ ९ ॥)

अनुवाद—पुण्यकी इच्छासे जो वर्ष भर नाना प्रकारके यज्ञ और हवनको करे, तो भी वह सरलताको प्राप्त (पुरुष) के लिये की गई अभिवादनाके चतुर्थांशसे भी बढ़कर नहीं है।

अरण्यकुटी दीर्घायु कुमार

१०९—अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्धापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥१०॥

(अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः ।
चत्वारो धर्मा वर्धन्ते आयुर्वर्णः सुखं बलम्* ॥ १० ॥)

अनुवाद—जो अभिवादन शील है, जो सदा वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसकी चार बातें (=धर्म) बढ़ती हैं,—आयु, वर्ण, सुख और बल।

जेतवन संकिच्च (=सांकृत्य) सामणेर

११०—यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥११॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् दुःशीलोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः शीलवतो ध्यायितः ॥ ११ ॥)

अनुवाद—दुराचारी और एकाग्रचित्ततारविरहित (=असमाहित)के सौ वर्षके जीनेसे भी सदाचारी और ध्यानीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है।

जेतवन कोण्डञ्ञ (थेर)

१११—यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो ॥१२॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् दुष्प्रज्ञोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः ॥ १२ ॥)

---

* मनुस्मृतिमें है—"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि संप्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् (२।१२१)।

अनुवाद—दुष्प्रज्ञ और असमाहितके सौ वर्षके जीनेसे भी प्रज्ञावान् और ध्यानीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है।

जेतवन — सप्पदास (थेर)

११२—यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो वीरियमारभतो दळ्हं ॥१३॥
(यश्च वर्षशतं जीवेत् कुसीदो हीनवीर्यः ।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढम् ॥१३॥)

अनुवाद—आलसी और अनुद्योगीके सौ वर्षके जीवनसे दृढ़ उद्योग करनेवालेके जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है।

जेतवन — पटाचारा (थेरी)

११३—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयब्बयं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयब्बयं ॥१४॥
(यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् उदयव्ययम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यत उदयव्ययम् ॥१४॥)

अनुवाद—(संसारमें वस्तुओंके) उत्पत्ति और विनाशका न ख्यालकरनेके सौ वर्षके जीवनसे, उत्पत्ति और विनाशका ख्याल करनेवाले जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है।

जेतवन — किसा गोतमी

११४—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं ॥१५॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् अमृतं पदम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतोऽमृतं पदम् ॥१५॥

अनुवाद—अमृतपद (=दुःखनिर्वाण)को न ख्याल करनेके वर्षके जीवनसे, अमृतपदको देखनेवाले जीवनका दिन श्रेष्ठ है ।

जेतवन　　　　बहुपुत्तिका (थेरी)

११५—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥१६॥

(यश्च वर्षशतं जीवेदपश्यन् धर्ममुत्तमम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम् ॥१६॥

अनुवाद—उत्तम धर्मको न देखनेके सौ वर्षके जीवनसे, उत्तम ध देखनेवालेके जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है ।

८—सहस्रवर्ग समाप्त

९—पापवग्गो

जेतवन (चूल) एकसाटक (ब्राह्मण)

११६—अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये ।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो ॥१॥
(अभित्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत् ।
तन्द्रितं हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः ॥१॥)

अनुवाद—पुण्य (कामोंमें) जल्दी करे, पापसे चित्तको निवारण करे, पुण्यको धीमी गतिसे करनेपर चित्त पापमें रत होने लगता है।

जेतवन सेय्यसक (थेर)

११७—पापञ्च पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं ।
न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥२॥
(पापं चेत् पुरुषः कुर्यात् न तत् कुर्यात् पुनः पुनः ।
न तस्मिं छन्दं कुर्यात्, दुःखः पापस्य उच्चयः ॥२॥)

अनुवाद—यदि पुरुष (कभी) पापकर डाले, तो उसे पुनः पुनः न करे, उसमें रत न होवे, (क्योंकि) पापका संचय दुःख (का कारण) होता है।

जेतवन लाजदेवकी कन्या

११८—पुञ्ञञ्चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं ।
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥३॥
(पुण्यं चेत् पुरुषः कुर्यात्, कुर्याद् एतत् पुनः पुनः ।
तस्मिं छन्दं कुर्यात् सुखः पुण्यस्य उच्चयः ॥३॥)

अनुवाद——यदि पुरुष पुण्य करे तो, उसे पुनः पुनः करे, उसमें रत होवे, (क्योंकि) पुण्यका संचय सुखकर होता है ।

जेतवन अनाथपिण्डिक (सेठ)

११९—पापोपि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति ।
यदा च पच्चति पापं अथ पापानि पस्सति ॥४॥
(पापोऽपि पश्यति भद्रं यावत् पापं न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापं अथ पापानि पश्यति ॥४॥)

१२०—भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति ।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रानि पस्सति ॥५॥
(भद्रोऽपि पश्यति पापं यावद् भद्रं न पच्यते ।
यदा च पच्यते भद्रं अथ भद्राणि पश्यति ॥५॥)

अनुवाद——पापी भी तबतक भला ही देखता है, जबतक कि पापका विपाक नहीं होता; जब पापका विपाक होता है, तब (उसे) पाप दिखाई पड़ने लगता है। भद्र (पुण्य करनेवाला, पुरुष) भी तबतक पापको देखता है 'जबतक

कि पुण्यका विपाक नहीं होने लगता; जब पुण्यका विपाक होने लगता है, तो पुण्योंको देखने लगता है।

जेतवन असंयमी (भिक्षु)

१२१—मावमञ्ञेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदविन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥६॥
(मा ऽवमन्येत पापं न मां तद् आगमिष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते।
बालः पूरयति पापं स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥ ६ ॥)

अनुवाद—"वह मेरे पास नहीं आवेगा" ऐसा (सोच) पापकी अवहेलना न करे। पानीकी बूंदके गिरनेसे घड़ा भर जाता है (ऐसे ही) मूर्ख थोड़ा थोड़ा संचय करते पापको भर लेता है।

जेतवन बिलालपाद (सेठ)

१२२—मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदविन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥७॥
(मा ऽवमन्येत पुण्यं न मां तद् आगमिष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो ऽपि पूर्यते।
धीरः पूरयति पुण्यं स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥ ७ ॥)

अनुवाद—"वह मेरे पास नहीं आयेगा"—ऐसा (सोच) पुण्यकी अवहेलना न करे। पानी की०। धीर थोड़ा थोड़ा संचय करते पुण्यको भर लेता है।

जेतवन   महाधन (वणिक्)

१२३—वाणिजो 'व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो।
विसं जीवितुकामो'व पापानि परिवज्जये ॥८॥
(वणिगिव भयं मार्गं अल्पसार्थो महाधनः।
विषं जीवितुकाम इव पापानि परिवर्जयेत् ॥ ८ ॥)

अनुवाद—थोड़े काफिले और महाधनवाला वनजारा जैसे भययुक्त रास्तेको छोड़ देता है, (अथवा) जीनेकी इच्छावाला पुरुष जैसे विषको (छोड़ देता है); वैसे ही (पुरुष) पापोंको छोड़ दे।

वेणुवन   कुक्कुटमित्त

१२४—पाणिम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥९॥
(पाणौ चेद् व्रणो न स्याद् हरेत् पाणिना विषम्।
नाऽव्रणं विषमन्वेति, नास्ति पापं अकुर्वतः ॥ ९ ॥

अनुवाद—यदि हाथमें घाव न हो, तो हाथसे विषको ले ले (क्योंकि) घाव(=व्रण)-रहित (शरीरमें) विष नहीं लगता; (इसी प्रकार) न करनेवालेको पाप नहीं लगता।

जेतवन कोक (कुत्तेका शिकारी)

१२५—यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखुमो रजो पटिवातं 'व खित्तो ॥१०॥

(योऽल्पदुष्टाय नराय दुष्यति
शुद्धाय पुरुषायाऽनङ्गणाय ।
तमेव बालं प्रत्येति पापं, सूक्ष्मो
रजः प्रतिवातमिव क्षिप्तम् ॥ १० ॥)

अनुवाद—जो दोषरहित शुद्ध निर्मल पुरुषको दोष लगाता है, उसी अज्ञको (उसका) पाप लौटकर लगता है, (जैसे कि) सूक्ष्म धूलिको हवाके आनेके रुख फेंकनेसे (वह फेंकनेवाले पर पड़ती है) ।

जेतवन (मणिकारकुलूपग) तिस्स (थेर)

१२६—गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो ।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥११॥

(गर्भमेके उत्पद्यन्ते, निरयं पापकर्मिणः ।
स्वर्गं सुगतयो यान्ति, परिनिर्वान्त्यनास्रवाः ॥ ११ ॥)

अनुवाद—कोई (पुरुष) गर्भमें उत्पन्न होते हैं, (कोई) पाप-कर्मी नरकमें (जाते हैं), (कोई) सुगतिवाले (पुरुष) स्वर्गको जाते हैं; (और चित्तके) मलोंसे रहित (पुरुष) निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

जेतवन — ३ भिक्षु

१२७—न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्यट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥१२॥

(नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये
न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो
यत्रस्थितो मुच्येत पापकर्मणः ॥१२॥)

अनुवाद——न आकाशमें न समुद्रके मध्यमें न पर्वतोंके विवरमें प्रवेश कर—संसारमें कोई स्थान नहीं है, जहाँ रहकर—पाप कर्मोंके (फलसे) (प्राणी) बच सके।

कपिलवस्तु (न्यग्रोधाराम) — सुप्पबुद्ध (शाक्य)

१२८—न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्यट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू ॥१३॥

(नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये
न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो
यत्रस्थितं न प्रसहेत मृत्युः ॥१३॥)

अनुवाद——न आकाशमें ०—जहाँ रहनेवालेको मृत्यु न सतावे।

९—पापवर्ग समाप्त

१०—दण्डवग्गो

जेतवन — छब्बग्गिय (भिक्षुलोग)

१२९—सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥१॥
(सर्वे त्रस्यन्ति दण्डात् सर्वे बिभ्यति मृत्योः ।
आत्मानं उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥१॥)

अनुवाद—दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातोंको) जानकर न मारे न मारनेकी प्रेरणा करे ।

जेतवन — छब्बग्गिय (भिक्षु)

१३०—सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥२॥
(सर्वे त्रस्यन्ति दण्डात् सर्वेषां जीवितं प्रियम् ।
आत्मानं उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥२॥)

अनुवाद—सभी दण्डसे डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है, (इसे) अपने समान जानकर न मारे न मारनेकी प्रेरणा करे ।

जेतवन　　बहुतसे लड़के

१३१—सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥३॥

(सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति ।
आत्मनः सुखमन्विष्य प्रेत्य स न लभते सुखम् ॥३॥)

१३२—सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं ॥४॥

(सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिनस्ति ।
आत्मनः सुखमन्विष्य प्रेत्य स लभते सुखम् ॥४॥)

अनुवाद——सुख चाहनेवाले प्राणियोंको, अपने सुख की चाहसे जो दण्ड से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता । सुख चाहनेवाले प्राणियोंको, अपने सुख की चाहसे जो दण्डसे नहीं मारता, वह मरकर सुखको प्राप्त होता है ।

जेतवन　　कुण्डधान (थेर)

१३३—मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं ।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥५॥

(मा वोचः परुषं किञ्चिद् उक्ताः प्रतिवदेयुस्त्वाम् ।
दुःखा हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डाः स्पृशेयुस्त्वाम् ॥५॥)

१३४—स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा ।
एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति ॥६॥

(स चेत् नेरयसि आत्मानं कांस्यमुपहतं यथा।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं संरम्भस्ते न विद्यते ॥६॥)

अनुवाद—कठोर वचन न बोलो, बोलनेपर (दूसरे भी वैसे ही) तुम्हें बोलेंगे, दुर्वचन दुःखदायक (होते हैं), (बोलनेमें) बदलेमें तुम्हें दण्ड मिलेगा। टूटा कांसा जैसे निःशब्द रहता है, (वैसे) यदि तुम अपनेको (निःशब्द रक्खो), तो तुमने निर्वाणको पालिया, तुम्हारे लिये कलह (=हिंसा) नहीं रही।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) विसाखा आदि (उपासिकायें)

१३५—यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चू च आयुं पाचेन्ति पाणिनं ॥७॥

(यथा दंडेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम्।
एवं जरा च मृत्युश्चायुः प्राजयतः प्राणिनाम् ॥७॥)

अनुवाद—जैसे ग्वाला लाठीसे गायोंको चरागाहमें ले जाता है; वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियोंकी आयुको ले जाते हैं।

राजगृह (वेणुवन) अजगर (प्रेत)

१३६—अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो 'व तप्पति ॥८॥

(अथ पापानि कर्माणि कुर्वन् बालो न बुध्यते।
स्वैः कर्मभिः दुर्मेधा अग्निदग्ध इव तप्यते ॥८॥)

अनुवाद—पाप कर्म करते वक्त मूढ़ (पुरुष उसे) नहीं बूझता, पीछे

दुर्बुद्धि अपने ही कर्मोंके कारण आगसे जलेकी भाँति अनुताप करता है।

राजगृह (वेणुवन) महामोग्गलान (थेर)

१३७—यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति ॥९॥
(यो दण्डेनादण्डेष्वप्रदुष्टेषु दुष्यति।
दशानामन्यतमं स्थानं क्षिप्रमेव निगच्छति ॥९॥)

१३८—वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वापि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे ॥१०॥
(वेदनां परुषां ज्यानिं शरीरस्य च भेदनम्।
गुरुकं वाऽप्याबाधं चित्तक्षेपं वा प्राप्नुयात् ॥१०॥)

१३९—राजतो वा उपस्सग्गं अब्भक्खानं व दारुणं।
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुणं ॥११॥
(राजतो वोपसर्गमभ्याख्यानं वा दारुणम्।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां भोगानां वा प्रभंजनम् ॥११॥)

१४०—अथवस्स अगारानि अग्गी डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति ॥१२॥
(अथवाऽस्यागाराण्यग्निर्दहति पावकः।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो निरयं स उपपद्यते ॥१२॥)

अनुवाद—जो दण्डरहितोंको दण्डसे (पीड़ित करता है), निर्दोषोंको दोष लगाता है, वह शीघ्र ही इन स्थानोंमेंसे एकको प्राप्त

होता है। कड़वी वेदना, हानि, अंगका भंग होना, भारी बीमारी, (या) चित्तविक्षेप (=पागल)को प्राप्त होता, है। या राजासे दण्डको (प्राप्त होना है।), दारुण निन्दा, जाति बन्धुओंका विनाश, भोगोंका क्षय; अथवा उसके घरको अग्नि = पावक जलाता है; काया छोड़नेपर वह दुर्बुद्धि नर्कमें उत्पन्न होता है।

जेतवन बहुभण्डिक (भिक्षु)

१४१—न नग्गचरिया न जटा न पङ्का
नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥१३॥

(न नग्नचर्या न जटा न पंकं
नाऽनशनं स्थण्डिलशायिका वा।
रजोजलीयं उत्कुटिकप्रधानं
शोधयन्ति मर्त्यं अवितीर्णकांक्षम् ॥१३॥)

अनुवाद—जिस पुरुषकी आकांक्षायें समाप्त नहीं हो गई, उस मनुष्य-की शुद्धि, न नंगे रहनेसे, न जटासे, न पंक (लपेटने) से, न फाका (=उपवास) करनेसे, न कड़ी भूमिपर सोनेसे, न धूल लपेटनेसे, न उकडूँ बैठनेसे होती है।

जेतवन सन्तति (महामात्य)

१४२—अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य
सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।

सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू ॥ १४॥

(अलंकृतश्चेदपि शमं चरेत्
शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं
स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः ॥१४॥)

अनुवाद——अलंकृत रहते भी यदि वह शान्त, दान्त, नियमतत्पर, ब्रह्मचारी, सारे प्राणियोंके प्रति दंडत्यागी है, तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण (=संन्यासी) वही भिक्षु है।

जेतवन पिलोतिक (थेर)

१४३—हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति ।
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्रो कसामिव ॥ १५॥

(ह्रीनिषेधः पुरुषः कश्चित् लोके विद्यते ।
यो निन्दां न प्रबुध्यति अश्वो भद्रः कशामिव ॥१५॥)

अनुवाद——लोकमें कोई पुरुष होते हैं, जो (अपने ही) लज्जा करके निषिद्ध (कर्म) को नहीं करते, जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े को नहीं सह सकता, वैसे ही वह निन्दाको नहीं सह सकते ।

१४४—अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो
आतापिनो संवेगिनो भवाथ ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च
समाधिना धम्मविनिच्छयेन च ।

सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता
पहस्सथा दुक्खमिदं अनप्पकं ॥१६॥

(अश्वो यथा भद्रः कशानिविष्ट
आतापिनः संवेगिनो भवत।
श्रद्धया शीलेन च वीर्येण च
समाधिना धर्मविनिश्चयेन च।
सम्पन्नविद्याचरणाः प्रतिस्मृताः
प्रहास्यथ दुःखमिदं अनल्पकम् ॥१६॥)

अनुवाद—कोड़े पड़े उत्तम घोड़ेकी भाँति, उद्योगी, ग्लानियुक्त, (वेगवान्) हो; श्रद्धा, आचार, वीर्य, समाधि, और धर्म-निश्चयसे युक्त (बन), विद्या और आचरणसे समन्वित हो, दौडकर इस महान् दुःख(-राशि) को पार कर सकते हो।

१४५—उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका
अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥१७॥

(उदकं हि नयन्ति नेतृकाः, इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
दारुं नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति सुव्रताः ॥१७॥)

अनुवाद—नहरवाले पानी लेजाते हैं, वाण बनानेवाले वाणको ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ीको ठीक करते हैं, सुन्दर व्रतवाले अपनेको दमन करते हैं।

१०—दण्डवर्ग समाप्त

११—जरावग्गो

जेतवन विसाखाकी संगिनी

१४६—कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ॥ १ ॥

(को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति ।
अन्धकारेणाऽवनद्धाः प्रदीपं न गवेषयथ ॥१॥)

अनुवाद—जब नित्य ही (आग) जल रही हो, तो क्या हँसी है, क्या आनन्द है ? अंधकारसे घिरे तुम दीपकको (क्यों) नहीं ढूंढते हो ?

राजगृह (वेणुवन) सिरिमा

१४७—पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं ।
आतुरं बहुसङ्कप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥ २ ॥

(पश्य चित्रीकृतं बिम्बं अरुकायं समुच्छ्रितम् ।
आतुरं बहुसंकल्पं यस्य नास्ति ध्रुवं स्थितिः ॥२॥)

अनुवाद——देखो विचित्र शरीरको, जो व्रणोंसे युक्त, फूला, पीडित नाना संकल्पोंसे युक्त है, जिसकी स्थिति अनियत है।

जेतवन उत्तरी (थेरी)

१४८—परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं।
भिज्जती पतिसन्देहो मरणन्तं हि जीवितं ॥३॥

(परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम्।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितम् ॥३॥)

अनुवाद——यह रूप जीर्ण शीर्ण, रोगका घर, और भंगुर है, सड़ कर देह भग्न होती है; जीवन मरणान्त जो ठहरा।

जेतवन अधिमान (भिक्खु)

१४९—यानि'मानि अपत्थानि अलावूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान का रति ॥४॥

(यानीमान्यपथ्यान्यलावूनीव शरदि।
कापोतकान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वा का रतिः ॥४॥)

अनुवाद——शरद कालकी अपथ्य लौकीकी भाँति (फेंक दी गई), या कबूतरोंकी सी (सफेद होगई) हड्डियोंको देखकर किसको इस (शरीरमें) प्रेम होगा?

जेतवन रूपनन्दा (थेरी)

१५०—अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चू च मानो मक्खो च ओहितो ॥५॥

(अस्थ्नां नगरं कृतं मांसलोहितलेपनम् ।
यत्र जरा च मृत्युश्च मानो म्रक्षश्चावहितः ॥५॥)

अनुवाद—हड्डियोंका (एक) नगर (=गढ़) बनाया गया है, जो मांस और रक्तसे लेपा गया है; जिसमें जरा, और मृत्यु, अभिमान और डाह छिपे हुये हैं।

जेतवन मल्लिका देवी

१५१—जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो सरीरम्पि जरं उपेति।
सतं च धम्मो न जरं उपेति
सन्तो ह वे सब्भि पवेदयन्ति ॥६॥

(जीर्यन्ति वै राजरथाः सुचित्रा अथ शरीरमपि जरामुपेति।
सतां च धर्मो न जरामुपेति सन्तो ह वै सद्भ्यः प्रवेदयन्ति॥६॥

अनुवाद—सुचित्रित राजरथ भी पुराने हो जाते हैं, और शरीर भी जराको प्राप्त होता है; (किन्तु) सज्जनोंका धर्म (=गुण) जराको नहीं प्राप्त होता, सन्त जन सत्पुरुषोंके बारेमें ऐसाही कहते हैं।

जेतवन (लाल) उदायी (थेर)

१५२—अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दो'व जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥७॥

(अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो बलीवर्द इव जीर्यति।
मांसानि तस्य वर्द्धन्ते प्रज्ञा तस्य न वर्द्धते ॥७॥)

अनुवाद——अल्पश्रुत (=अज्ञानी) पुरुष बैलकी भाँति जीर्ण होता है। उसका मांस ही बढ़ता है, प्रज्ञा नहीं बढ़ती।

१५३—अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥८॥
(अनेकजातिसंसारं समधाविषं अनिविशमानः।
गृहकारकं गवेषयन्, दुःखा जातिः पुनः पुनः ॥८॥)

१५४—गहकारक ! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥९॥
(गृहकारक, दृष्टोऽसि पुनर्गेहं न करिष्यसि।
सर्वास्ते पार्श्विका भग्ना गृहकूटं विसंस्कृतम्।
विसंस्कारगतं चित्तं तृष्णानां क्षयमध्यगात् ॥९॥)

अनुवाद——बिना रुके अनेक जन्मों तक संसारमें दौड़ता रहा। (इस काया रूपी) कोठरीको बनानेवाले (=गृहकारक) को खोजते पुनः पुनः दुःख (-मय) जन्म में पड़ता रहा। हे गृह-कारक ! (अब) तुझे पहिचान लिया, (अब) फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियाँ भग्न हो गयीं, गृहका शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्तने तृष्णाका क्षय हो गया।

वाराणसी (ऋषिपतन) महाधनी सेठका पुत्र

१५५—अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्णकोंचा'व झायन्ति खीणमच्छे'व पल्लले ॥१०॥

(अचरित्त्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
जीर्णक्रौंच इव क्षीयन्ते क्षीणमत्स्य इव पल्वले ॥१०॥)

१५६—अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बणे धनं ।
सेन्ति चापातिखीणा'व पुराणानि अनुत्थुनं ॥११॥

(अचरित्त्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
शेरते चापोऽतिक्षीण इव पुराणान्यनुतन्वन्तः ॥११॥)

अनुवाद——ब्रह्मचर्यको विना पालन किये, जवानीमें धनको विना कमाये, (पुरुष) मत्स्यहीन जलाशयमें बूढ़े क्रौंच पक्षीसे जान पडते हैं ।

११—जरावर्ग समाप्त

१२—अत्तवग्गो

सुंसुमारगिरि (भेसकलावन) बोधि राजकुमार

१५७—अत्तानं चे पियं जञ्ञा रक्खेय्य तं सुरक्खितं ।
तिण्णमञ्ञतरं यामं पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥१॥

(आत्मानं चेत् प्रियं जानीयाद् रक्षेत्तं सुरक्षितम् ।
त्रयाणामन्यतमं यामं प्रतिजागृयात् पण्डितः ॥१॥)

अनुवाद—अपनेको यदि प्रिय समझा है, तो अपनेको सुरक्षित रखना चाहिये; पंडित (जन) (रातके) तीनों यामों (=पहरों) में से एकमें जागरण करे ।

जेतवन (शाक्यपुत्र) उपनन्द (थेर)

१५८—अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये ।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥२॥

(आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत् ।
अथान्यमनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डितः ॥२॥)

अनुवाद——पहिले अपनेको ही उचित (काम)में लगावे, (फिर) यदि दूसरेको उपदेश करे, (तो) पंडित क्लेशको न प्राप्त होगा।

जेतवन (अभ्यासी) तिस्स (थेर)

१५९—अत्तानञ्चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति ।
सुदन्तो वत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ॥३॥
(आत्मानं चेत् तथा कुर्याद् यथाऽन्यमनुशास्ति ।
सुदान्तो वत दमयेद्, आत्मा हि किल दुर्दमः ॥३॥)

अनुवाद——अपनेको वैसा बनावे, जैसा दूसरेको अनुशासन करना है; (पहिले) अपनेको भली प्रकार दमन करे; वस्तुतः अपनेको दमन करना (ही) कठिन है।

जेतवन कुमार कस्सपकी माता (थेरी)

१६०—अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥४॥
(आत्मा[1] हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात् ।
आत्मनैव सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥४॥)

---

[1]. भगवद्गीता (अध्याय ६)में—
"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥"

अनुवाद——(पुरुष) अपने ही अपना मालिक है, दूसरा कौन मालिक हो सकता है; अपनेको भली प्रकार दमन कर लेने पर (वह एक) दुर्लभ मालिकको पाता है।

जेतवन

महाकाल (उपासक)

१६१—अत्तना'व कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं 'व'स्ममयं मणिं ॥५॥
(आत्मनैव कृतं पापं आत्मजं आत्मसम्भवम्।
अभिमथ्नाति दुर्मेधसं वज्रमिवाश्ममयं मणिम् ॥५॥)

अनुवाद——अपनेसे जात, अपनेसे उत्पन्न, अपनेसे किया पाप, (करनेवाले) दुर्बुद्धिको पाषाणमय वज्रमणिकी (चोटकी) भाँति मन्थन (=पीड़ित) करता है।

जेतवन

देवदत्त

१६२—यस्सच्चन्तदुस्सील्यं मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्तानं यथा 'नं इच्छती दिसो ॥६॥
(यस्याऽत्यन्तदौःशील्यं मालुवा शालमिवाततम्।
करोति स तथात्मानं यथैनमिच्छति द्विषः ॥६॥)

अनुवाद——मालुवालता[1] से वेष्टित शाल (वृक्ष) की भाँति जिसका दुराचार फैला हुआ है; वह अपनेको वैसा ही कर लेता है, जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं।

---

[1] मालुवा एक लता है, जो जिस वृक्षपर चढती है, वर्षामें पानीके भारसे उसे तोड़ डालती है।

राजगृह (वेणुवन) संघमें फूटके समय

१६३—सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च ।
यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुक्करं ॥७॥

(सुकराण्यसाधून्यात्मनोऽहितानि च ।
यद् वै हितं च साधु च तद् वै परमदुष्करम् ॥७॥)

अनुवाद—अनुचित और अपने लिये अहित (कर्मोंका करना) सुकर है; (लेकिन) जो हित और उचित है, उसका करना परम दुष्कर है ।

जेतवन काल (थेर)

१६४—यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं ।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तहञ्ञाय फुल्लति ॥८॥

(यः शासनमर्हतां आर्याणां धर्मजीविनाम् ।
प्रतिक्रुश्यति दुर्मेधा दृष्टिं निःश्रित्य पापिकाम् ।
फलानि काष्ठकस्यैवात्महत्यायै फुल्लति ॥८॥)

अनुवाद—धर्मजीवी, आर्य, अर्हतोंके शासन(=धर्म)को, जो दुर्बुद्धि बुरी दृष्टिसे निन्दता है; वह बाँसके फलकी भाँति अपनी हत्याके लिये फूलता है ।

जेतवन (चूळ) काल (उपासक)

१६५—अत्तना'व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति ।
अत्तना अकतं पापं अत्तना'व विसुज्झति ॥
सुद्धि असुद्धिपच्चत्तं नञ्ञो अञ्ञं विसोधये ॥९॥

(आत्मनैव कृतं पापं आत्मना संक्लिश्यति ।
आत्मनाऽकृतं पापं आत्मनैव विशुध्यति ।
शुद्ध्यशुद्धी प्रत्यात्मं नाऽन्योऽन्यं विशोधयेत् ॥९॥)

अनुवाद—अपनेसे किया पाप अपनेको ही मलिन करता है, अपने पाप न करे तो अपने ही शुद्ध रहता है; शुद्धि अशुद्धि प्रत्येक (आदमी)की अलग अलग है; दूसरा (आदमी)दूसरेको शुद्ध नहीं कर सकता ।

जेतवन अत्तदत्थ (थेर)

१६६—अत्तदत्थं परत्थेन बहुनाऽपि न हापये ।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया ॥१०॥

(आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनाऽपि न हापयेत् ।
आत्मनोऽर्थमभिज्ञाय सदर्थप्रसितः स्यात् ॥१०॥)

अनुवाद—परायेके बहुत हितके लिये भी अपने हितकी हानि न करे; अपने हितको जान कर सच्चे हितमें लगे ।

१२—आत्मवर्ग समाप्त

१३—लोकवग्गो

जेतवन — कोई अल्पवयस्क भिक्षु

१६७—हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे ।
मिच्छादिट्ठि न सेवेय्य न सिया लोक-वड्ढनो ॥ १ ॥

(हीनं धर्मं न सेवेत, प्रमादेन न संवसेत् ।
मिथ्यादृष्टिं न सेवेत, न स्यात् लोकवर्द्धनः ॥१॥)

अनुवाद—पाप(=नीच धर्म)को न सेवन करे, न प्रमादसे लिप्त होवे, झूठी धारणाको न सेवन करे, (आदमीको) लोक-(=जन्म मरण)-वर्द्धक नहीं बनना चाहिये ।

कपिलवस्तु (न्यग्रोधाराम) — सुद्धोदन

१६८—उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे ।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥ २ ॥

(उत्तिष्ठेत् न प्रमाद्येद् धर्मं सुचरितं चरेत् ।
धर्मचारी सुखं शेतेऽस्मिं लोके परत्र च ॥२॥)

१६९—धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥३॥

(धर्मं चरेत् सुचरितं न तं दुश्चरितं चरेत् ।
धर्मचारी सुखं शेतेऽस्मिन् लोके परत्र च ॥३॥)

अनुवाद—उत्साही बने, आलसी न बने, सुचरित धर्मका आचरण करे, धर्मचारी (पुरुष) इस लोक और परलोकमें सुख-पूर्वक सोता है। सुचरित धर्मका आचरण करे, दुश्चरित कर्म (=धर्म) का सेवन न करे। धर्मचारी (पुरुष)०।

जेतवन पाँच सौ ज्ञानी (भिक्षु)

१७०—यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥४॥

(यथा बुद्बुदकं पश्येद् यथा पश्येत् मरीचिकाम् ।
एवं लोकमवेक्षमाणं मृत्युराजो न पश्यति ॥४॥)

अनुवाद—जैसे बुल्बुलेको देखता है, जैसे (मरु-)मरीचिकाको देखता है, लोकको वैसे ही (जो पुरुष) देखता है, उसकी ओर यमराज (आँख उठाकर) नहीं देख सकता।

राजगृह (वेणुवन) अभय राजकुमार

१७१—एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं ॥५॥

(एत पश्यतेमं लोकं चित्रं राजरथोपमम् ।
यत्र बाला विषीदन्ति नास्ति संगो विजानताम् ॥५॥)

अनुवाद—आओ, विचित्र राजपथके समान इस लोकको देखो, जिसमें मूढ़ आसक्त होते हैं, ज्ञानी जन आसक्त नहीं होते।

जेतवन सम्मुञ्जानि (थेर)

१७२–यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥६॥
(यश्च पूर्वं प्रमाद्य पश्चात् स न प्रमाद्यति।
स इमं लोकं प्रभासयत्येभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमा ॥ ६ ॥)

अनुवाद—जो पहिले भूल कर फिर भूल नहीं करता, वह मेघसे उन्मुक्त चन्द्रमाकी भाँति इस लोकको प्रकाशित करता है।

जेतवन अंगुलिमाल (थेर)

१७३–यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिधिय्यति।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥७॥
(यस्य पापं कृतं कर्म कुशलेन पिधीयते।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमा ॥ ७ ॥)

अनुवाद—जो अपने किये पाप कर्मोंको पुण्यसे ढाक देता है, वह मेघसे उन्मुक्त०।

आलवी रंगरेजकी कन्या

१७४–अन्धभूतो अयं लोको तनुकेथ विपस्सति।
सकुन्तो जालमुत्तो'व अप्पो सग्गाय गच्छति ॥८॥
(अन्धभूतोऽयं लोकः, तनुकोऽत्र विपश्यति।
शकुन्तो जालमुक्त इवाल्पः स्वर्गाय गच्छति ॥ ८ ॥)

अनुवाद—यह लोक अन्धे जैसा है, यहाँ देखनेवाले थोड़े ही हैं; जालसे मुक्त पक्षीकी भाँति विरले ही स्वर्गको जाते हैं।

जेतवन तीन भिक्षु

१७५—हंसादिच्चपथे यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिणिं ॥९॥
(हंसा आदित्यपथे यन्ति, आकाशे यन्ति ऋद्धिया।
नीयन्ते धीरा लोकात् जित्वा मारं सवाहिनीकम् ॥ ९ ॥)

अनुवाद—हंस सूर्यपथ (=आकाश)में जाते हैं, (योगी) ऋद्धि(-बल)-से आकाशमें जाते हैं, धीर (पुरुष) सेना-सहित मारको पराजित कर लोकसे (निर्वाणको) ले जाये जाते हैं।

जेतवन चिञ्चा (माणविका)

१७६—एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ॥१०॥
(एकं धर्ममतीतस्य मृषावादिनो जन्तोः।
वितीर्णपरलोकस्य नास्ति पापमकार्यम् ॥ १० ॥)

अनुवाद—जो धर्मको अतिक्रमण कर चुका, जो प्राणी मृषावादी है, जो परलोक(का ख्याल) छोड़ चुका है, उसके लिये कोई पाप अकरणीय नहीं।

जेतवन (अयुक्त दान)

१७७—न [वे] कदरिया देवलोकं वजन्ति
बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं।

धीरो च दानं अनुमोदमानो
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥ ११॥

(न [वै] कदर्या देवलोकं व्रजंति
बाला ह वै न प्रशंसंति दानम्।
धीरश्च दानं अनुमोदमानस्तेनैव
स भवति सुखी परत्र ॥ ११ ॥)

अनुवाद—कंजूस देवलोक नहीं जाते, मूढ़ ही दानकी 'प्रशंसा नहीं करते; धीर दानका अनुमोदन कर, उसी(कर्म)से पर (लोक)में सुखी होता है।

जेतवन		अनाथपिण्डकके पुत्रका मरण

१७८—पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपत्येन सोतापत्तिफलं वरं ॥१२॥

(पृथिव्या एकराज्यात् स्वर्गस्य गमनाद् वा।
सर्वलोकाऽऽधिपत्याद् वा स्रोतआपत्तिफलं वरम्॥ १२ ॥)

अनुवाद—(सारी) पृथिवीका अकेला राजा होनेसे, या स्वर्गके गमनसे, (या) सभी लोकोंके अधिपति होनेसे भी स्रोतआपत्ति* फल (का मिलना) श्रेष्ठ है।

१३—लोकवर्ग समाप्त

---

* जो पुरुष निर्वाण-गामी मार्गपर इस प्रकार आरूढ़ हो जाता है, कि फिर वह उससे भ्रष्ट नहीं हो सकता, उसे स्रोत-आपन्न (=धारमें पड़ा) कहते हैं। इसी पदके लाभको स्रोत-आपत्ति-फल कहते हैं।

१४—बुद्धवग्गो

उरुवेला (बोधिमंड) मागन्दिय (ब्राह्मण)

१७९—यस्स जितं नावजीयति
जितमस्स नो याति कोचि लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥१॥
(यस्य जितं नावजीयते
जितमस्य न याति कश्चिल्लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेष्यथ ? ॥१॥)

१८०—यस्स जालिनी विसत्तिका
तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥२॥
(यस्य जालिनी विषात्मिका तृष्णा
नास्ति कुत्रचित् नेतुम् ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेष्यथ ? ॥२॥)

अनुवाद—जिसका जीता बेजीता नहीं किया जा सकता, जिसके जीते (राग, द्वेष, मोह फिर) नहीं लौटते; उस अपद (=स्थान-रहित), अनन्तगोचर (=अनन्तको देखनेवाले) बुद्धको किस पथसे प्राप्त करोगे ? जिसकी जाल फैलानेवाली विष-रूपी तृष्णा कहीं भी लेजाने लायक नहीं रही; उस अपद ०।

संकाश्य नगर देव, मनुष्य

१८१—ये झाणपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे रता ।
देवापि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं ॥३॥
(ये ध्यानप्रसिता धीरा नैष्कर्म्योपशमे रताः ।
देवा अपि तेषां स्पृहयन्ति संबुद्धानां स्मृतिमताम् ॥३॥)

अनुवाद—जो धीर ध्यानमें लग्न, निष्कर्मता और उपशममें रत हैं, उन स्मृतिमान् (=सचेत) बुद्धोंकी देवता भी स्पृहा (=होड़) करते हैं ।

वाराणसी एरकपत्त (नागराज)

१८२—किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं ।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥४॥
(कृच्छ्रो मनुष्यप्रतिलाभः कृच्छ्रं मर्त्यानां जीवितम् ।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं कृच्छ्रो बुद्धानां उत्पादः ॥४॥)

अनुवाद—मनुष्य(योनि)का लाभ कठिन है, मनुष्यका जीवन (मिलना) कठिन है, सच्चा धर्म सुननेको मिलना कठिन है, बुद्धों (=परम ज्ञानियों)का जन्म कठिन है ।

जेतवन आनन्द (थेर) का प्रश्न

१८३—सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
स-चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ॥५॥
(सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा।
स्वचित्तपर्यवदापनं एतद् बुद्धानां शासनम् ॥५॥)

अनुवाद—सारे पापोंका न करना, पुण्योंका संचय करना, अपने चित्तको परिशुद्ध करना, यह है बुद्धोंकी शिक्षा।

जेतवन आनन्द (थेर)

१८४—खन्ती परमं तपो तितिक्खा,
निब्बाणं परमं वदन्ति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती,
समणो होति परं विहेठयन्तो ॥६॥
(क्षान्तिः परमं तपः तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः।
नहि प्रव्रजितः परोपघाती श्रमणो भवति परं विहेठयन् ॥६॥)

१८५—अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं ॥७॥
(अनुपवादोऽनुपघातः प्रातिमोक्षे च संवरः।
मात्राज्ञता च भक्ते प्रान्तं च शयनासनम्।
अधिचित्ते चायोग एतद् बुद्धानां शासनम् ॥७॥)

अनुवाद—क्षमा है परम तप, और तितिक्षा बुद्ध निर्वाणको परम (=उत्तम) बतलाते हैं; दूसरेका घात करनेवाला, दूसरेको पीड़ित करनेवाला प्रव्रजित (=गृहत्यागी), श्रमण (=संन्यासी) नहीं हो सकता। निन्दा न करना, घात न करना, प्रातिमोक्ष (=भिक्षु-नियम, आचार-नियम) द्वारा अपनेको सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्तमें सोना-बैठना (=शयनासन=निवासगृह), चित्तको योगमें लगाना, यह बुद्धोंकी शिक्षा है।

जेतवन (उदास भिक्षु)

१८६—न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो ॥८॥

(न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते।
अल्पास्वादा दुःखाः कामा इति विज्ञाय पण्डितः ॥८॥)

१८७—अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको ॥९॥

(अपि दिव्येषु कामेषु रतिं स नाऽधिगच्छति।
तृष्णाक्षयरतो भवति सम्यक्संबुद्धश्रावकः ॥९॥)

अनुवाद—यदि रुपयों(=कहापण)की वर्षा हो, तो भी (मनुष्य की) कामों(=भोगों)से तृप्ति नहीं हो सकती। (सभी) काम (=भोग) अल्प-स्वाद, (और) दुःखद हैं, ऐसा जानकर पंडित देवताओंके भोगोंमें भी रति नहीं करता; और सम्यक्संबुद्ध (=बुद्ध)का श्रावक (=अनुयायी) तृष्णाको नाश करनेमें लगता है।

जेतवन अग्गिदत्त (ब्राह्मण)

१८८—बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥१०॥
(बहु वै शरणं यन्ति पर्वतान् वनानि च।
आरामवृक्षचैत्यानि मनुष्या भयतर्जिताः ॥१०॥)

१८९—नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥११॥
(नैतत् खलु शरणं क्षेमं नैतत् शरणमुत्तमम्।
नैतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात्प्रमुच्यते ॥११॥)

अनुवाद—मनुष्य भयके मारे पर्वत, वन, आराम (=उद्यान), वृक्ष, चैत्य (=चौरा) (आदिको देवता मान उनकी) शरणमें जाते हैं; किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं; (क्योंकि) इन शरणोंमें जाकर सब दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता।

जेतवन अग्गिदत्त (ब्राह्मण)

१९०—यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥१२॥
(यश्च बुद्धं च धर्मं च संघं च शरणं गतः।
चत्वार्यार्यसत्यानि सम्यक् प्रज्ञया पश्यति ॥१२॥)

१९१—दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥१३॥

(दुःखं दुःखसमुत्पादं दुःखस्य चातिक्रमम् ।
आर्याष्टांगिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम् ॥१३॥)

१९२—एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ १४॥

(एतत् खलु शरणं क्षेमं एतत् शरणमुत्तमम् ।
एतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥)

अनुवाद—जो बुद्ध (=परमज्ञानी), धर्म (=सत्यज्ञान) और संघ (=परमज्ञानियोंके अनुयायियोंके समुदाय)की शरण गया, जो चारों आर्यसत्यों* को प्रज्ञासे भलीप्रकार देखता है। (वह चार सत्य हैं—) (१) दुःख, (२)दुःखकी उत्पत्ति, (३) दुःखका अतिक्रमण, और (४, दुःख नाशक) आर्य-अष्टांगिक मार्ग†—जो कि दुःखको शमनकरनेकी ओर ले जाता है; ये हैं मंगलप्रद शरण, ये हैं उत्तम शरण, इन शरणोंको पाकर (मनुष्य) सारे दुःखोंसे छूट जाता है।

जेतवन आनन्द (थेर)का प्रश्न

१९३—दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति ।
यत्थ सो जायती धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥ १५॥

---

* दुःख, उसका कारण, उसका नाश, और नाशका उपाय—यह बुद्ध द्वारा आविष्कृत चार उत्तम सच्चाइयाँ हैं।

† आर्य-अष्टांगिक मार्ग है—ठीक धारणा, ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक उद्योग, ठीक स्मृति, और ठीक ध्यान।

(दुर्लभः पुरुषाजानेयो न स सर्वत्र जायते।
यत्र स जायते धीरः तत् कुलं सुखमेधते ॥ १५ ॥)

अनुवाद——उत्तम पुरुष दुर्लभ है, वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता, वह धीर (पुरुष) जहाँ उत्पन्न होता है, उस कुलमें सुखकी वृद्धि होती है ।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

१९४—सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना ।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥ १६ ॥

(सुखो बुद्धानां उत्पादः सुखा सद्धर्म-देशना ।
सुखा संघस्य सामग्री समग्राणां तपः सुखम् ॥ १६ ॥)

अनुवाद——सुखदायक है बुद्धोंका जन्म, सुखदायक है सच्चे धर्मका उपदेश, संघमें एकता सुखदायक है; और सुखदायक है, एकतायुक्त हो तप करना ।

चारिकाके समय कस्सप बुद्धका सुवर्ण चैत्य

१९५—पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके ।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥ १७ ॥

(पूजार्हान् पूजयतो बुद्धान् यदि वा श्रावकान् ।
प्रपंचसमतिक्रान्तान् तीर्णशोकपरिद्रवान् ॥ १७ ॥)

१९६—ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये ।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तम्पि केनचि ॥ १८ ॥

(तान् तादृशान् पूजयतो निर्वृतान् अकुतोभयान् ।
न शक्यं पुण्यं संख्यातुं एतस्मात्रमपि केनचित् ॥ १८ ॥)

अनुवाद——पूजनीय बुद्धों, अथवा (उनके) अनुगामियों——जो संसार को अतिक्रमणकर गये हैं, जो शोक भयको पारकर गये हैं——की पूजाके, (या) उन ऐसे मुक्त और निर्भय (पुरुषों) की पूजाके, पुण्यका परिमाण "इतना है"——यह नहीं कहा जा सकता ।

१४—बुद्धवर्ग समाप्त

१५—सुखवग्गो

शाक्य नगर — ज्ञाति कलहके उपशमनार्थ

१९७—सुसुखं वत ! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो ।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥१॥

(सुसुखं बत ! जीवामो वैरिष्ववैरिणः ।
वैरिषु मनुष्येषु विहरामोऽवैरिणः ॥१॥)

१९८—सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेसु अनातुरा ।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥२॥

(सुसुखं बत ! जीवाम आतुरेष्वनातुराः ।
आतुरेषु मनुष्येषु विहरामोऽनातुराः ॥२॥)

१९९—सुसुखं वत ! जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका ।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ॥३॥

(सुसुखं बत ! जीवाम उत्सुकेष्वनुत्सुकाः ।
उत्सुकेषु मनुष्येषु विहराम अनुत्सुकाः ॥३॥)

अनुवाद——वैरियोंके प्रति (भी) अवैरी हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; वैरी मनुष्योंके बीच अवैरी होकर हम विहार करते हैं। भयभीत मनुष्योंमें अभय हो, अहो ! हम सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; भयभीत मनुष्यों के बीच निर्भय होकर हम विहार करते हैं। उत्सुकों (=आसक्तों)में उत्सुकता-रहित हो०।

पंचसाला (ब्राह्मणग्राम, मगध) मार

२००—सुसुखं वत ! जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥४॥
(सुसुखं बत ! जीवामो येषां नो नास्ति किंचन।
प्रीतिभक्ष्या भविष्यामो देवा आभास्वरा यथा ॥४॥)

अनुवाद——जिन हम (लोगों)के पास कुछ नहीं, अहो ! वह हम कितना सुखसे जीवन बिता रहे हैं। हम आभास्वर देवताओं की भाँति प्रीतिभक्ष्य (=प्रीति ही भोजन है जिनका) हैं।

जेतवन कोसलराज

२०१—जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं ॥५॥
(जयो वैरं प्रसूते दुःखं शेते पराजितः।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयौ ॥५॥)

अनुवाद——विजय वैरको उत्पन्न करती है, पराजित (पुरुष) दुःखकी (नींद) सोता है; (राग आदि दोष जिसके) शान्त (हैं,

वह पुरुष) जय और पराजयको छोड सुखकी (नींद) सोता है ।

जेतवन — कोई कुलकन्या

२०२—नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि ।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥६॥
(नास्ति रागसमोऽग्निः, नास्ति द्वेषसमः कलिः ।
नास्ति स्कन्धसमा दुःखाः, नास्ति शान्तिपरं सुखम् ॥६॥)

अनुवाद—रागके समान अग्नि नहीं, द्वेषके समान मल नहीं, (पाँच) स्कन्धों* के (=समुदाय) समान दुःख नहीं, शान्तिसे बढ़कर सुख नहीं ।

आलवी — एक उपासक

२०३—जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा ।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणं परमं सुखं ॥७॥
(जिघत्सा परमो रोगः, संस्कारः परमं दुःखम् ।
एतद् ज्ञात्वा यथाभूतं निर्वाणं परमं सुखम् ॥७॥)

अनुवाद—भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़े दुःख हैं,

---

* रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यह पाँच स्कन्ध हैं । वेदना, संज्ञा, संस्कार विज्ञानके अन्दर हैं । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ही रूप स्कंध है । जिसमें न भारीपन है, और जो न जगह घेरता है, वह विज्ञान स्कंध है । रूप (=Matter) और विज्ञान (=Mind) इन्हींके मेलसे सारा संसार बना है ।

यह जान, यथार्थ निर्वाणको सबसे बड़ा सुख (कहा जाता है) ।

जेतवन (पसेनदि कोसलराज)

२०४—आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं ।
विस्सासपरमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं ॥८॥

(आरोग्यं परमो लाभः, सन्तुष्टिः परमं धनम् ।
विश्वासः परमा ज्ञातिः, निर्वाणं परमं सुखम् ॥८॥)

अनुवाद——निरोग होना परम लाभ है, सन्तोष परम धन है, विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है, निर्वाण परम (=सबसे बड़ा) सुख है।

वैशाली तिस्स (थेर)

२०५—पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च ।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥९॥

(प्रविवेकरसं पीत्वा रसं उपशमस्य च ।
निर्दरो भवति निष्पापो धर्म प्रीतिरसं पिबन् ॥९॥)

अनुवाद——एकान्त (चिन्तन)के रस, तथा उपशम (=शान्ति)के रसको पीकर (पुरुष), निडर होता है, (और) धर्मका प्रेमरस पानकर निष्पाप होता है ।

वेलुवग्राम (वेणुग्राम, वैशालीके पास) सक्क (देवराज)

२०६—साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो ।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

(साधु दर्शनमार्याणां सन्निवासः सदा सुखः ।
अदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी स्यात् ॥१०)

२०७—बालसंगतिचारी हि दीघमद्धानं सोचति ।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा ।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं 'व समागमो ॥११॥

(बालसंगतिचारी हि दीर्घमध्वानं शोचति ।
दुःखो बालैः संवासोऽमित्रेणैव सर्वदा ।
धीरश्च सुखसंवासो ज्ञातीनामिव समागमः ॥११॥)

अनुवाद——आर्यों* (=सत्पुरुषों)का दर्शन सुन्दर है, सन्तोंके साथ निवास सदा सुखदायक होता है; मूढ़ोंके न दर्शन होनेसे (मनुष्य) सदा सुखी रहता है । मूढ़ोंकी संगतिमें रहनेवाला दीर्घ काल तक शोक करता है, मूढ़ोंका सहवास शत्रुकी तरह सदा दुःखदायक होता है, बन्धुओंके समागमकी भाँति धीरोंका सहवास सुखद होता है ।

वेलुवगाम सक्क (देवराज)

२०८—तस्मा हि धीरं च पञ्ञञ्च बहु-स्सुतं च
धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं ।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं
भजेय नक्खत्तपथं 'व चन्दिमा ॥१२॥

*निर्वाणके पथपर अविचल रूपसे आरूढ स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा निर्वाण-प्राप्त=अर्हत् इन चार प्रकारके पुरुषोंको आर्य कहते हैं ।

(तस्माद्धि धीरं च प्राज्ञं च बहुश्रुतं च
धुर्यशीलं व्रतवन्तमार्यम् ।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुमेधसं
भजेत नक्षत्रपथमिव चन्द्रमा ॥१२॥)

अनुवाद—इसलिये धीर, प्राज्ञ, बहुश्रुत, उद्योगी, व्रती, आर्य एवं सुबुद्धि सत्पुरुषका वैसेही सेवन करे, जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-पथका (सेवन करता है) ।

१५—सुखवर्ग समाप्त

१६—पियवग्गो

जेतवन तीन भिक्षु

२०९—अयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिञ्च अयोजयं ।
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेत'त्तानुयोगिनं ॥१॥

(अयोगे युंजन्नात्मानं योगे चायोजयन् ।
अर्थं हित्वा प्रिय-ग्राही स्पृहयेदात्मानुयोगिनम् ॥१॥)

२१०—मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं ।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानञ्च दस्सनं ॥२॥

(मा प्रियैः समागच्छ, अप्रियैः कदाचन ।
प्रियाणां अदर्शनं दुःखं, अप्रियाणां च दर्शनम् ॥२॥)

२११—तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको ।
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं ॥३॥

(तस्मात् प्रियं न कुर्यात्, प्रियापायो हि पापकः ।
ग्रन्थाः तेषां न विद्यन्ते येषां नास्ति प्रियाप्रियम् ॥३॥)

अनुवाद—अयोग(=अनासक्ति)में अपनेको लगानेवाले, योग (=आसक्ति)में न योग देनेवाले, अर्थ (=स्वार्थ) छोड़ प्रियका ग्रहण करनेवाले आत्माऽनुयोगी (पुरुष)की स्पृहा करे। प्रियोंका संग मत करो, और न कभी अप्रियों ही (का संग करो), प्रियोंका न देखना दुःखद होता है, और अप्रियोंका देखना (भी)। इसलिये प्रिय न बनावे, प्रियका नाश बुरा (लगता है); उनके (दिलमें) गाँठ नहीं पड़ती, जिनके प्रिय अप्रिय नहीं होते।

जेतवन कोई कुटुम्बी

२१२—पियतो जायते सोको पियतो जायते भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥४॥

(प्रियतो जायते शोकः प्रियतो जायते भयम्।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ?॥४॥)

अनुवाद—प्रिय (वस्तु)से शोक उत्पन्न होता है, प्रियसे भय उत्पन्न होता है; प्रिय(के बन्धन)से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं है, फिर भय कहाँसे (हो) ?

जेतवन विशाखा (उपासिका)

२१३—पेमतो जायते सोको पेमतो जायते भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥५॥

(प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम्।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकः कुतो भयम् ?॥५॥

अनुवाद——प्रेमसे शोक उत्पन्न होता है, प्रेमसे भय उत्पन्न होता है, प्रेमसे मुक्तको शोक नहीं, फिर भय कहाँसे ?

वैशाली (कूटागारशाला) लिच्छवि लोग

२१४—रतिया जायते सोको रतिया जायते भयं ।
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥६॥

(रत्या जायते शोको रत्या जायते भयम् ।
रत्या विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकः कुतो भयम् ॥६॥)

अनुवाद——रति(=राग)से शोक उत्पन्न होता है, रतिसे भय उत्पन्न होता है० ।

जेतवन अनित्थिगन्धकुमार

२१५—कामतो जायते सोको कामतो जायते भयं ।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥७॥

(कामतो जायते शोकः कामतो जायते भयम् ।
कामतो विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकः कुतो भयम् ? ॥७॥)

अनुवाद——कामसे शोक उत्पन्न होता है० ।

जेतवन कोई ब्राह्मण

२१६—तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ?॥८॥

(तृष्णाया जायते शोकः तृष्णाया जायते भयम् ।
तृष्णाया विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकः कुतो भयम् ? ॥८॥)

अनुवाद—तृष्णासे शोक उत्पन्न होता है० ।

राजगृह (वेणुवन) पाँच सौ बालक

२१७—सीलदस्सनसम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं ।
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं ॥९॥
(शीलदर्शनसम्पन्नं धर्मिष्ठं सत्यवादिनम् ।
आत्मनः कर्म कुर्वाणं तं जनः कुरुते प्रियम् ॥९॥)

अनुवाद—जो शील (=आचरण) और दर्शन (=विद्या)से सम्पन्न, धर्ममें स्थित, सत्यवादी और अपने कामको करनेवाला है, उस(पुरुष)को लोग प्रेम करते हैं ।

जेतवन (अनागामी)

२१८—छन्दजातो अनक्खाते मनसा च फुटो सिया ।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतो 'ति वुच्चति ॥१०॥
(छन्दजातोऽनाख्याते मनसा च स्फुरितः स्यात् ।
कामेषु चाऽप्रतिबद्धचित्त ऊर्ध्वस्रोता इत्युच्यते ॥१०॥)

अनुवाद—जो अकथ्य(-वस्तु=निर्वाण)का अभिलाषी है, (उसमें) जिसका मन लगा है, कामों(=भोगों)में जिसका चित्त बद्ध नहीं, वह ऊर्ध्वस्रोत कहा जाता है ।

ऋषिपतन नन्दिपुत्त

२१९—चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं ।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

(चिरप्रवासिनं पुरुषं दूरतो स्वस्त्यागतम् ।
ज्ञातिमित्राणि सुहृदश्चाऽभिनन्दन्त्यागतम् ॥११॥)

२२०—तथेव कतपुञ्ञम्पि अस्मा लोका परं गतं ।
पुञ्ञानि पतिगण्हन्ति पियं ञातीव आगतं ॥१२॥

(तथैव कृतपुण्यमप्यस्मात् लोकात् परं गतम् ।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति प्रियं ज्ञातिमिवागतम ॥१२॥)

अनुवाद—चिर-प्रवासी (=चिर काल तक परदेशमें रहे) दूर(देश) से सानन्द लौटे पुरुषका, जातिवाले, मित्र और सुहृद् अभिनन्दन करते हैं ; इसी प्रकार पुण्यकर्मा (पुरुष)को इस लोकसे पर(लोक)में जानेपर, (उसके) पुण्य (कर्म) प्रिय जाति(वालों)की भाँति स्वीकार करते हैं ।

१६—प्रियवर्ग समाप्त

१७—कोधवग्गो

कपिलवस्तु (न्यग्रोधाराम) रोहिणी

२२१–कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं
सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य ।
तं नाम-रूपस्मिं असज्जमानं
अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥ १ ॥

(क्रोधं जह्याद् विप्रजह्यात् मानं
संयोजनं सर्वमतिक्रमेत ।
तं नाम-रूपयोरसज्यमानं
अकिंचनं नाऽनुपतन्ति दुःखानि ॥१॥)

अनुवाद—क्रोधको छोड़े, अभिमानका त्याग करे, सारे संयोजनों (=बंधनों)से पार हो जाये, ऐसे नाम-रूपमें आसक्त न होनेवाले, तथा परिग्रहरहित(पुरुष)को दुःख सन्ताप नहीं देते ।

आल्वी (अग्गालव चैत्य) कोई भिक्षु

२२२–यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं 'व धारये ।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥२॥

(यो वै उत्पतितं क्रोधं रथं भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमहं सारथिं ब्रवीमि, रश्मिग्राह इतरो जनः ॥२॥)

अनुवाद—जो चढ़े क्रोधको भ्रमण करते रथकी भाँति पकड़ ले, उसे मैं सारथी कहता हूँ, दूसरे लोग लगाम पकड़नेवाले (मात्र) हैं।

राजगृह (वेणुवन) उत्तरा (उपासिका)

२२३–अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥३॥

(अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनाऽलीकवादिनम् ॥३॥)

अनुवाद—अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको साधु(=भलाई)से जीते, कृपणको दानसे जीते, झूठ बोलनेवालेको सत्यसे (जीते) ।

जेतवन महामोग्गल्लान (थेर)

२२४–सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जा'प्पस्मिम्पि याचितो ।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥४॥

(सत्यं भणेत् न क्रुध्येत् , दद्यादल्पेऽपि याचितः ।
एतैस्त्रिभिः स्थानैः गच्छेद् देवानामन्तिके ॥४॥)

अनुवाद—सच बोले, क्रोध न करे, थोड़ा भी माँगनेपर दे, इन तीन बातोंसे (पुरुष) देवताओंके पास जाता है ।

साकेत (=अयोध्या)　　ब्राह्मण

२२५—अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता ।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥

(अहिंसका ये मुनयो नित्यं कायेन संवृताः ।
ते यन्ति अच्युतं स्थानं यत्र गत्वा न शोचन्ति ॥५॥)

अनुवाद—जो मुनि (लोग) अहिंसक, सदा कायामें संयम करनेवाले हैं, वह (उस) अच्युत स्थान (=जिस स्थान पर पहुँच फिर गिरना नहीं होता)को प्राप्त होते हैं, जहाँ जाकर फिर नहीं शोक किया जाता ।

राजगृह (गृध्रकूट)　　राजगृह-श्रेष्ठीका पुत्र

२२६—सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं ।
निब्बाणं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥६॥

(सदा जाग्रतां अहोरात्रं अनुशिक्षमाणानाम् ।
निर्वाणं अधिमुक्तानां अस्तं गच्छन्ति आस्रवाः ॥६॥)

अनुवाद—जो सदा जागता (=सचेत) रहता है, रातदिन (उत्तम) सीख सीखनेवाला होता है, और निर्वाण (प्राप्त कर) मुक्त हो गया है, उसके आस्रव (=चित्त मल) अस्त हो जाते हैं ।

जेतवन　　　　अतुल (उपासक)

२२७—पोराणमेतं अतुल ! नेतं अज्जतनामिव ।
निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं ।
मितभाणिनम्पि निन्दन्ति
नत्थि लोके अनिन्दितो ॥७॥

(पुराणमेतद् अतुल ! नैतद् अद्यतनमेव ।
निन्दन्ति तूष्णीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनम् ।
मितभाणिनमपि निन्दन्ति नाऽस्ति लोकेऽनिन्दितः ॥७॥)

२२८—न चाहु न च भविस्सन्ति न चेतरहि विज्जति ।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो ॥८॥

(न चाऽभूत् न च भविष्यति न चैतर्हि विद्यते ।
एकान्तं निन्दितः पुरुष एकान्तं वा प्रशंसितः ॥८॥)

अनुवाद—हे अतुल ! यह पुरानी बात है, आजकी नहीं—(लोग) चुप बैठे हुये की निन्दा करते हैं, और बहुत बोलनेवालेको भी, मितभाषीको भी निन्दा करते हैं; दुनियामें अनिन्दित कोई नहीं है । बिल्कुल ही निन्दित या बिल्कुल ही प्रशंसित पुरुष न था, न होगा, न आजकल है ।

जेतवन　　　　अतुल (उपासक)

२२९—यञ्चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे ।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्ञासीलसमाहितं ॥९॥

(यदचेद् विज्ञाः प्रशंसन्ति अनुविच्य श्वः श्वः ।
अच्छिद्रवृत्तिं मेधाविनं प्रज्ञाशीलसमाहितम् ॥९॥)

२३०—नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति ।
देवापि तं पसंसन्ति ब्रह्मुणाऽपि पसंसितो ॥१०॥
(निष्कं जम्बूनदस्येव कस्तं निन्दितुमर्हति ।
देवा अपि तं प्रशंसन्ति ब्रह्मणाऽपि प्रशंसितः ॥१०॥)

अनुवाद—अपने अपने (दिलमें) जान कर विज्ञ लोग अछिद्र वृत्ति (=दोषरहित स्वभाववाले)मेधावी, प्रज्ञा-शील-संयुक्त जिस (पुरुष)की प्रशंसा करते हैं; जाम्बूनद (सुवर्ण) की अशर्फीके समान उसकी कौन निन्दा कर सकता है; देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्माद्वारा भी वह प्रशंसित होता है ।

वेणुवन वज्जिय (भिक्षु)

२३१—कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया ।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥११॥
(कायप्रकोपं रक्षेत् कायेन संवृतः स्यात् ।
कायदुश्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरेत् ॥११॥)

२३२—वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया ।
वची दुच्चरितं हित्वा वचीं सुचरितं चरे ॥१२॥
(वचः प्रकोपं रक्षेद् वाचा संवृतः स्यात् ।
वचो दुश्चरितं हित्वा वाचा सुचरितं चरेत् ॥१२॥)

२३३—मनोप्पकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया ।
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥

(मनः प्रकोपं रक्षेत् मनसा संवृतः स्यात् ।
मनोदुश्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरेत् ॥१३॥)

२३४—कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता ।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता ॥१४॥

(कायेन संवृता धीरा अथ वाचा संवृताः ।
मनसा संवृता धीराः ते वै सुपरिसंवृता ॥१४॥)

अनुवाद—कायाकी चंचलतासे रक्षा करे, कायासे संयत रहे, कायिक दुश्चरितको छोड़ कायिक सुचरितका आचरण करे । वाणीकी चंचलतासे रक्षा करे, वाणीसे संयत रहे, वाचिक दुश्चरितको छोड़, वाचिक सुचरितका आचरण करे । मनकी चंचलतासे रक्षा करे, मनसे संयत रहे, मानसिक दुश्चरितको छोड़, मानसिक सुचरितका आचरण करे ।

१७—क्रोधवर्ग समाप्त

१८—मलवग्गो

जेतवन — गोघातक-पुत्र

२२५—पाण्डुपलासो'व दानिसि, यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता ।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥ १ ॥
(पाण्डुपलाशमिवेदानीमसि यमपुरुषा अपि च त्वां उपस्थिताः।
उद्योगमुखे च तिष्ठसि पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥१॥)

२२६—सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि ॥ २ ॥
(स कुरु द्वीपमात्मनः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव ।
निर्धूतमलोऽनंगणो दिव्यां आर्यभूमिं एष्यसि ॥२॥)

अनुवाद—पीले पत्तेके समान इस वक्त तू है, यमदूत तेरे पास आ खड़े हैं, तू प्रयाणके लिये तय्यार है, और पाथेय तेरे पास कुछ नहीं है। सो तू अपने लिये द्वीप (= रक्षास्थान) बना, उद्योग कर, पंडित बन, मल प्रक्षालित कर, दोष-रहित बन आर्योंके दिव्य पदको पायेगा ।

जेतवन गोघातक-पुत्र ।

२३७—उपनीतवयो च दानिसि सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके ।
वासोपि च ते नत्थि अन्तरा पाथेय्यम्पि च तेन विज्जति ॥३॥

(उपनीतवया इदानीमसि
सम्प्रयातोऽसि यमस्याऽन्तिके ।
वासोऽपि च ते नाऽस्ति अन्तरा
पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥३॥

२३८—सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥४॥

(स कुरु द्वीपमात्मनः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव ।
निर्धूतमलोऽनंगणो न पुनर्जातिजरे उपेष्यसि ॥४॥)

अनुवाद——आयु तेरी समाप्त हो गई, यमके पास पहुँच चुका, निवास (स्थान) भी तेरा नहीं है, (यात्राके) मध्यके लिये तेरे पास पाथेय भी नहीं। सो तू अपने लिये० ।

जेतवन कोई ब्राह्मण

२३९—अनुपुब्बेन मेधावी थोकथोकं खणे खणे ।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो ॥५॥

(अनुपूर्व्वेण मेधावी स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे ।
कर्मारो रजतस्येव निर्धमेत् मलमात्मनः ॥५॥)

अनुवाद——बुद्धिमान् (पुरुष) क्षण क्षण क्रमशः थोड़ा थोड़ा अपने मलको (वैसे ही) (जलावे), जैसे कि सोनार चाँदीके (मलको) जलाता है ।

जेतवन तिस्स (थेर)

२४०—अयसा 'व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादति ।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं ॥६॥
(अयस इव मलं समुत्थितं त(स्मा)द्
उत्थाय तदेव खादति ।
एवं अतिधावनचारिणं स्वानि
कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम् ॥६॥)

अनुवाद—लोहेसे उत्पन्न मल (= मुर्चा) जैसे जिसीसे उत्पन्न होता है, उसे ही खा डालता है; इसी प्रकार अति चंचल (पुरुष)के अपने ही कर्म उसे दुर्गतिको ले जाते हैं ।

जेतवन (लाल) उदायी (थेर)

२४१—असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा ।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं ॥७॥
(अस्वाध्यायमला मंत्रा अनुत्थानमला गृहाः ।
मलं वर्णस्य कौसीद्यं, प्रमादो रक्षतो मलम् ॥७॥)

अनुवाद—स्वाध्याय (= स्वरपूर्वक पाठकी आवृत्ति) न करना (वेद -)मंत्रोंका मल (= मुर्चा) है, (लीप पोत मरम्मत कर) न उठाना घरोंका मुर्चा है । शरीरका मुर्चा आलस्य है, असावधानी रक्षकका मुर्चा है ।

रजगृह (वेणुवन) कोई कुलपुत्र

२४२—मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं ।
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च ॥८॥

(मलं स्त्रिया दुश्चरितं मात्सर्यं ददतो मलम् ।
मलं वै पापका धर्मा अस्मिन् लोके परत्र च ॥८॥)

२४३—ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं ।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो ॥९॥

(ततो मलं मलतरं अविद्या परमं मलम् ।
एतत् मलं प्रहाय निर्मला भवत भिक्षवः ॥९॥)

अनुवाद—स्त्रीका मल दुराचार है, कृपणता (= कंजूसी) दाताका मल है, पाप इस लोक और पर(लोक दोनों)में मल है फिर मलोंमें भी सबसे बड़ा मल—महामल अविद्या है। हे भिक्षुओ ! इस (अविद्या) मलको त्याग कर निर्मल बनो।

जेतवन (चुल्ल) सारी

२४४—सुजीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिना ।
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥१०॥

(सुजीवितं अह्रीकेण काकशूरेण ध्वंसिना ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन संक्लिष्टेन जीवितम् ॥१०॥)

अनुवाद—(पापाचारके प्रति) निर्लज्ज, कौए समान (स्वार्थमें) शूर, (परहित-)विनाशी, पतित, उच्छृंखल और मलिन (पुरुष)का जीवन सुखपूर्वक बीतता (देखा जाता) है।

जेतवन (चुल्ल) सारी

२४५—हिरिमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना ।
अलीनेन'प्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥११॥

(ह्रीमता च दुर्जीवितं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
अलीनेनाऽप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन पश्यता ॥११॥)

अनुवाद—(पापाचारके प्रति) लज्जावान्, नित्य ही पवित्रताका ख्याल रखने वाले, निरालस, अनुच्छृंखल, शुद्ध जीविका वाले सचेत(पुरुष)के जीवनको कठिनाईसे बीतते देखते हैं ।

जेतवन पाँच सौ उपासक

२४६—यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति ।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥ १२॥

(यः प्राणमतिपातयति मृषावादं च भाषते ।
लोकेऽदत्तं आदत्ते परादारांश्च गच्छति ॥१२॥)

२४७—सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो ॥ १३॥

(सुरामैरेयपानं च यो नरोऽनुयुनक्ति ।
इहैवमेष लोके मूलं खनत्यात्मनः ॥१३॥)

२४८—एवं भो पुरिस ! जानाहि पापधम्मा असञ्ञता ।
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥ १४॥

(एवं भो पुरुष ! जानीहि पापधर्माणोऽसंयतान् ।
मा त्वां लोभोऽधर्मश्च चिरं दुःखाय रन्धेरन् ॥१४॥)

अनुवाद—जो हिंसा करता है, झूठ बोलता है, लोकमें चोरी करता है (=बिना दियेको लेता है), परस्त्रीगमन करता है ।

जो पुरुष मद्यपानमें लग्न होता है, वह इस प्रकार इसी लोकमें अपनी जड़को खोदता है। हे पुरुष! पापियों असंयमियोंके बारेमें ऐसा जान, और मत तुझे लोभ, अधर्म चिरकाल तक दुःखमें राँधे।

जेतवन तिस्स (बालक)

२४९—ददन्ति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो।
तत्थ यो मंकु भवति परेसं पानभोजने।
न सो दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१५॥

(ददाति वै यथाश्रद्धं यथाप्रसादनं जनः।
तत्र यो मूको भवति परेषां पानभोजने।
न स दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥१५॥)

२५०—यस्स च तं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥

(यस्य च तत् समुच्छिन्नं मूलघातं समुद्धतम्।
स वै दिवा रात्रौ वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥)

अनुवाद—लोग अपनी अपनी श्रद्धा और प्रसन्नताके अनुसार दान देते हैं, वहाँ दूसरोंके खाने पीनेमें जो (असन्तोषके कारण) मूक होता है; वह रात दिन (कभी भी) समाधानको नहीं प्राप्त करता। (किन्तु) जिसका वह जड़ मूलसे पूरी तरह उच्छिन्न हो गया, वह रात दिन (सर्वदा) समाधानको प्राप्त होता है।

जेतवन　　पाँच उपासक

२५१—नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ॥१७॥
(नास्ति रागसमोऽग्निः नाऽस्ति द्वेषसमो ग्राहः ।
नाऽस्ति मोहसमं जलं, नाऽस्ति तृष्णा समा नदी ॥१७॥)

अनुवाद—रागके समान आग नहीं, द्वेषके समान ग्रह (=भूत, चुड़ैल) नहीं; मोहके समान जाल नहीं, तृष्णाके समान नदी नहीं ।

भद्दियनगर (जातियावन)　　मेण्डक (श्रेष्ठी)

२५२—सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं ।
अत्तनो पन छादेति कलिं'व कितवा सठो ॥१८॥
(सुदर्शं वद्यमन्येषां आत्मनः पुनर्दुर्दर्शम् ।
परेषां हि स वद्यानि अवपुणाति यथातुषम् ।
आत्मनः पुनः छादयति कलिमिव कितवात् शठः ॥१८॥)

अनुवाद—दूसरेका दोष देखना आसान है, किन्तु अपना (दोष) देखना कठिन है, वह (पुरुष) दूसरोंके ही दोषोंको भुसकी भाँति उड़ाता फिरता है, किन्तु अपने (दोषों)को वैसे ही ढाँकता है, जैसे शठ जुआरीसे पासेको ।

जेतवन　　उज्झानसञ्ञी (थेर)

२५३—परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो ।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा स आसवक्खया ॥१९॥

(परवद्याऽनुदर्शिनो नित्यं उद्ध्यानसंज्ञिनः ।
आस्रवास्तस्य वर्द्धन्ते आराद् स आस्रवक्षयात् ॥१९॥)

अनुवाद—दूसरेके दोषोंकी खोजमें रहनेवाले, सदा हाय हाय करने वाले (पुरुष)के आस्रव (=चित्तमल) बढ़ते हैं, वह आस्रवोंके विनाशसे दूर हटा हुआ है ।

कुशीनगर सुभद्द (परिव्राजक)

२५४—आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे ।
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

(आकाशे च पदं नाऽस्ति श्रमणो नाऽस्ति बहिः ।
प्रपंचाऽभिरताः प्रजा निष्प्रपंचास्तथागताः ॥२०॥)

२५५—आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे ।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥२१॥

(आकाशे च पदं नाऽस्ति श्रमणो नाऽस्ति बहिः ।
संस्काराः शाश्वता न सन्ति,
नाऽस्ति बुद्धानामिङ्गितम् ॥२१॥)

अनुवाद—आकाशमें पद (=चिन्ह) नहीं, बाहरमें श्रमण (=संन्यासी) नहीं रहता, लोग प्रपंचमें लगे रहते हैं, (किन्तु) तथागत (=बुद्ध) प्रपंचरहित होते हैं ।

१८—मलवर्ग समाप्त

१९—धम्मट्ठवग्गो

जेतवन विनिच्छयमहामच्च (=जज)

२५६—न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थञ्च उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥१॥

(न तेन भवति धर्मस्थो येनार्थं सहसा नयेत्।
यश्चाऽर्थं अनर्थं च उभौ निश्चिनुयात् पंडितः ॥१॥)

२५७—असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो'ति पवुच्चति ॥२॥
(असाहसेन धर्मेण समेन नयते परान्।
धर्मेण गुप्तो मेधावी धर्मस्थ इत्युच्यते ॥२॥)

अनुवाद—सहसा जो अर्थ (=कामकी वस्तु)को करता है, वह धर्मं
अवस्थित नहीं कहा जाता, पंडितको चाहिये कि वह अर्थ
अनर्थ दोनों को विचार (करके) करे।

जेतवन वज्जिय (भिक्षु)

२५८—न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति ॥३॥

(न तावता पंडितो भवति यावता बहु भाषते ।
क्षेमी अवैरो अभयः पंडित इत्युच्यते ॥३॥)

अनुवाद—बहुत भाषण करनेसे पंडित नहीं होता। जो क्षेमवान् अवैरी और अभय होता है, वही पंडित कहा जाता है।

जेतवन एकुदान (थेर)

२५९—न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति ।
यो च अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति ।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति ॥४॥

(न तावता धर्मधरो यावता बहु भाषते ।
यश्चाल्पमपि श्रुत्वा धर्मं कायेन पश्यति ।
स वै धर्मधरो भवति यो धर्मं न प्रमाद्यति ॥४॥)

अनुवाद—बहुत बोलनेसे धर्मधर (=धार्मिक ग्रंथोंका ज्ञाता) नहीं होता, जो थोडा भी सुनकर शरीरसे धर्मका आचरण करता है, और जो धर्ममें असावधानी (=प्रमाद) नहीं करता, वही धर्मधर है।

जेतवन लकुण्टक भद्दिय (थेर)

२६०—न तेन थेरो होति येन'स्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो'ति वुच्चति ॥५॥

(न तेन स्थविरो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।
परिपक्कं वयस्तस्य मोघजीर्ण इत्युच्यते ॥५॥)

अनुवाद—शिरके (बालके) पकनेसे थे (=स्थविर, वृद्ध) नहीं होता, उसकी आयु परिपक्क हो गई (सही), (किन्तु) वह व्यर्थका वृद्ध कहा जाता है ।

जेतवन लकुण्टक भद्दिय (थेर)

२६१—यम्हि सच्चञ्च धम्मो च अहिंसा सञ्ञमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो 'ति पवुच्चति ॥६॥

(यस्मिन् सत्यं च धर्मश्चाहिंसा संयमो दमः ।
स वै वान्तमलो धीरः स्थविर इत्युच्यते ॥६॥)

अनुवाद—जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम हैं, वही विगतमल, धीर और स्थविर कहा जाता है ।

जेतवन कितने ही भिक्षु

२६२—न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा ।
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो ॥७॥

(न वाक्करणमात्रेण वर्णपुष्कलतया वा ।
साधुरूपो नरो भवति ईर्षुको मत्सरी शठः ॥७॥)

२६३—यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं ।
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो 'ति वुच्चति ॥८॥

(यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघातं समुद्धतम् ।
स वान्तदोषो मेधावी साधुरूप इत्युच्यते ॥८॥)

अनुवाद—(यदि वह) ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ है; तो, वक्ता होने मात्रसे, सुन्दर रूप होनेसे, आदमी साधु-रूप नहीं होता है। जिसके यह जड़मूलसे बिलकुल उच्छिन्न हो गये हैं; जो विगतदोष, मेधावी है, वही साधु-रूप कहा जाता है।

जेतवन　　हत्थक (भिक्षु)

२६४—न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥९॥

(न मुंडकेन श्रमणो ऽव्रतोऽलीकं भणन्।
इच्छालाभसमापन्नः श्रमणः किं भविष्यति ॥९॥)

२६५—यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणो'ति पवुच्चति ॥१०॥

(यश्च शमयति पापानि अणूनि स्थूलानि सर्वशः।
शमितत्वाद्धि पापानां श्रमण इत्युच्यते ॥१०॥)

अनुवाद—जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा लाभसे भरा (पुरुष), क्या श्रमण होगा? जो छोटे बड़े पापोंको सर्वथा शमन करनेवाला है; पापको शमित होनेके कारण वह समण (=श्रमण) कहा जाता है।

जेतवन　　कोई ब्राह्मण

२६६—न तेन भिक्खू [सो] होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खू होति न तावता ॥११॥

(न तावता भिक्षुः [स] भवति यावता भिक्षते परान्।
विश्वं धर्मं समादाय भिक्षुर्भवति न तावता ॥११॥)

अनुवाद—दूसरोंके पास जाकर भिक्षा माँगने मात्रसे भिक्षु नहीं होता, (जो) सारे (बुरे) धर्मों (=कामों)को ग्रहण करता है (वह) भिक्षु नहीं होता।

जेतवन कोई ब्राह्मण

२६७—यो'ध पुञ्ञञ्च पापञ्च बाहित्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥१२॥
(य इह पुण्यं च पापं च बाहयित्वा ब्रह्मचर्यवान्।
संख्याय लोके चरित स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥१२॥)

अनुवाद—जो यहाँ पुण्य और पापको छोड़ ब्रह्मचारी बन, ज्ञानके साथ लोकमें विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है।

जेतवन तीर्थिक

२६८—न मोनेन मुनी होति मुल्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं'व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥१३॥
(न मौनेन मुनिर्भवति मूढरूपोऽविद्वान्।
यश्च तुलामिव प्रगृह्य वरमादाय पंडितः ॥१३॥)

२६९—पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥१४॥
(पापानि परिवर्जयति स मुनिस्तेन स मुनिः।
यो मनुत उभौ लोकौ मुनिस्तेन प्रोच्यते ॥१४॥)

अनुवाद—अविद्वान् और मूढसमान (पुरुष, सिर्फ) मौन होनेसे मुनि नहीं होता, जो पंडित कि तुलाकी भाँति पकड़कर, उत्तम (तत्त्व) को ग्रहण कर, पापोंका परित्याग करता है, वह मुनि है, और उक्त प्रकारसे मुनि होता है। चूंकि वह दोनों लोकोंका मनन करता है, इसलिये वह मुनि कहा जाता है।

जेतवन अरिय बाळिसिक

२७०—न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ॥१५॥

(न तेनाऽऽर्यो भवति येन प्राणान् हिनस्ति।
अहिंसया सर्वप्राणानां आर्य इति प्रोच्यते ॥१५॥)

अनुवाद—प्राणियोंको हनन करनेसे (कोई) आर्य नहीं होता, सभी प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे (उसे) आर्य कहा जाता है।

जेतवन बहुतसे शील-आदि-युक्त भिक्षु

२७१—न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पन।
अथवा समाधिलाभेन विविच्चसयनेन वा ॥१६॥

(न शीलव्रतमात्रेण बाहुश्रुत्येन वा पुनः।
अथवा समाधिलाभेन विविच्य शयनेन वा ॥१६॥)

२७२—फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खू! विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं ॥१७॥

(स्पृशामि नैष्कर्म्यसुखं अपृथग्जनसेवितम् ।
भिक्षो ! विश्वासं मा पादीः अप्राप्त आस्रवक्षयम् ॥१७॥)

अनुवाद——केवल शील और व्रतसे, बहुश्रुत होने (मात्र)से, या (केवल) समाधिलाभसे, या एकान्तमें शयन करनेसे, पृथग्जन (=अज्ञ) जिसे नहीं सेवन कर सकते, उस नैष्कर्म्य (=निर्वाण)-सुखको मै अनुभव नहीं कर रहा हूँ; हे भिक्षुओ ! जब तक आस्रवों (=चित्तमलों)का क्षय न हो जाये, जब तक चुप न बैठे रहो ।

१९—धर्मस्थवर्ग समाप्त

२०—मग्गवग्गो

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

२७३—मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥१॥
(मार्गाणामष्टांगिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान् ॥१॥)

२७४—एसो'व मग्गो नत्थ'ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥२॥
(एष वो मार्गो नाऽस्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैष प्रमोहनः ॥२॥)

अनुवाद—मार्गोंमें अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है, सत्योंमें चार पद (=चार आर्यसत्य) श्रेष्ठ हैं, धर्मोंमें वैराग्य श्रेष्ठ है, द्विपदों (=मनुष्यों)में चक्षुष्मान् (=ज्ञाननेत्रधारी, बुद्ध) श्रेष्ठ हैं। दर्शन(=ज्ञान)की विशुद्धिके लिये यही मार्ग है, दूसरा नहीं; (भिक्षुओ !) इसीपर तुम आरूढ़ होओ, यही मारको मूर्छित करने वाला है।

जेतवन　　　　　　　　पाँच सौ भिक्षु

२७५—एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ।
अक्खातो वे मया मग्गो अञ्ञाय सल्लसन्थनं ॥३॥

(एतं हि यूयं प्रतिपन्ना दुःखस्यान्तं करिष्यथ ।
आख्यातो वै मया मार्ग आज्ञाय शल्य-संस्थानम ॥३॥)

२७६—तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता ।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ॥ ४ ॥

(युष्माभिः कार्यं आतप्यं आख्यातारस्तथागताः ।
प्रतिपन्नाः प्रमोक्ष्यन्ते ध्यायिनो मारबन्धनात् ॥४॥)

अनुवाद—इस (मार्ग)पर आरूढ़ हो तुम दुःखका अन्त कर सकोगे, (स्वयं) जानकर (राग आदिके विनाशमें) शल्य समान मार्गको मैंने उपदेश कर दिया । कार्यके लिए तुम्हें उद्योग करना है, तथागतों (=बुद्धों)का कार्य उपदेश कर देना है, (तदनुसार मार्गपर) आरूढ़ हो, ध्यानमें रत पुरुष) मारके बन्धनसे मुक्त हो जायेंगे ।

जेतवन　　　　　　　　पाँच सौ भिक्षु

[अनित्य-लक्षणम्]

२७७—सब्बे सङ्खारा अनिच्चा 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥ ५ ॥

(सर्वे संस्कारा अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धये ॥ ५ ॥)

अनुवाद—सभी संस्कृत (=कृत, निर्मित, बनी) चीज़ें अनित्य हैं, यह जब प्रज्ञासे देखता है, तब सभी दुःखोंसे निर्वेद (=विराग)को प्राप्त होता है, यही मार्ग (चित्त-) शुद्धिका है।

[दुःख-लक्षणम्]

२७८—सब्बे सङ्खारा दुक्खा 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥६॥
(सर्वे संस्कारा दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति।
अथ निर्विन्दति दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धये ॥ ६ ॥)

अनुवाद—सभी संस्कृत (चीज़ें) दुःखमय हैं ०।

[अनात्म-लक्षणम्]

२७९—सब्बे धम्मा अनत्ता 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥७॥
(सर्वे धर्मा अनात्मान इति यदा प्रज्ञया पश्यति।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥ ७ ॥)

अनुवाद—सभी धर्म (=पदार्थ) बिना आत्माके हैं, ०।

जेतवन (योगी) तिस्स (थेर)

२८०—उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्न सङ्कप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति॥८॥

(उत्थानकालेऽनुत्तिष्ठन् युवा बली आलस्यमुपेतः ।
संसन्न-संकल्प-मनाः कुसीदः
प्रज्ञया मार्गं अलसो न विन्दति ॥ ८ ॥)

अनुवाद—जो उत्थान (=उद्योग)के समय उत्थान न करनेवाला, युवा और बली होकर (भी) आलस्यसे युक्त होता है, मनके संकल्पोंको जिसने गिरा दिया है, और जो कुसीदी (=दीर्घसूत्री) है, वह आलसी (पुरुष) प्रज्ञाके मार्गको नहीं प्राप्त कर सकता ।

राजगृह (वेणुवन)　　　　　(शूकर-प्रेत)

२८१—वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा ।
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥९॥

(वाचाऽनुरक्षी मनसा सुसंवृतः
कायेन चाऽकुशलं न कुर्यात् ।
एतान् त्रीन् कर्मपथान् विशोधयेत्,
आराधयेत् मार्गं ऋषिप्रवेदितम् ॥ ९ ॥)

अनुवाद—जो वाणीकी रक्षा करनेवाला, मनसे संयमी रहे, तथा कायासे पाप न करे; इन (मन, वचन, काय) तीनों कर्मपथोंकी शुद्धि करे, और ऋषि(=बुद्ध)के जतलाये धर्मका सेवन करे ।

जेतवन पोठिल (थेर)

२८२—योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसङ्खयो ।
एतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च ।
तथ'त्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ॥ १०॥

(योगाद् वै जायते भूरि अयोगाद् भूरिसंक्षयः ।
एतं द्वेधापथं ज्ञात्वा भवाय विभवाय च ।
तथाऽऽत्मानं निवेशयेद् यथा भूरि प्रवर्धते ॥ १० ॥)

अनुवाद——(मनके) योग(=संयोग)से भूरि (=ज्ञान) उत्पन्न होता है, अयोगसे भूरिका क्षय होता है। लाभ और विनाशके इन दो प्रकारके मार्गोंको जानकर, अपनेको इस प्रकार रक्खे, जिससे कि भूरिकी वृद्धि होवे ।

जेतवन कोई वृद्ध भिक्षु

२८३—वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं ।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च निब्बाना होथ भिक्खवो ! ॥ ११॥

(वनं छिन्धि मा वृक्षं वनतो जायते भयम् ।
छित्वा वनं च वनथं च निर्वाणा भवत भिक्षवः ॥ ११ ॥

२८४—यावं हि वनथो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु ।
पटिबद्धमनो नु ताव सो वच्छो खीरपको 'व मातरि ॥ १२॥

(यावद्धि वनथो न छिद्यतेऽणुमात्रोऽपि नरस्य नारीषु ।
प्रतिबद्धमनाः नु तावत् स वत्सः क्षीरप इव मातरि ॥ १२॥)

अनुवाद——वनको काटो, वृक्षको मत, वनसे भय उत्पन्न होता है, भिक्षुओ ! वन और झाड़ीको काटकर निर्वाणको प्राप्त हो जाओ। जबतक अणुमात्र भी स्त्रीमें पुरुषकी कामना अखंडित रहती है, तबतक दूध पीनेवाला बछड़ा जैसे मातामें आबद्ध रहता है, (वैसे ही वह पुरुष बंधा रहता है)।

जेतवन सुवण्णकार (थेर)

२८५—उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं 'व पाणिना ।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं ॥१३॥
(उच्छिन्धि स्नेहमात्मनः कुमुदं शारदिकमिव पाणिना ।
शान्तिमार्गमेव बृंहय निर्वाणं सुगतेन देशितम् ॥१३॥)

अनुवाद——हाथसे शरद्(ऋतु)के कुमुदकी भाँति, आत्मस्नेहको उच्छिन्न कर डालो, सुगत (=बुद्ध)द्वारा उपदिष्ट (इस) शान्तिमार्ग निर्वाणका आश्रय लो।

जेतवन (महाधनी वणिक्)

२८६—इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हसु ।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ॥१४॥
(इह वर्षासु वसिष्यामि इह हेमन्तग्रीष्मयोः ।
इति बालो विचिन्तयति, अन्तरायं न बुध्यते ॥१४॥)

अनुवाद——यहाँ वर्षामें वसूँगा, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्ममें (वसूँगा) —मूढ इस प्रकार सोचता है, (और) अन्तराय (=विघ्न) को नहीं बूझता।

जेतवन किसा गोतमी (थेरी)

२८७—तं पुत्तपसुसम्मतं व्यासत्तमनसं नरं ।
सुत्तं गामं महोघो 'व मच्चू आदाय गच्छति ॥ १५॥
(तं पुत्र-पशु-सम्मतं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं ग्रामं महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥१५॥)

अनुवाद——सोये गाँवको जैसे बड़ी बाढ़ (बहा लेजाये), वैसेही पुत्र और पशुमें लिप्त आसक्त (-चित्त) पुरुषको मौत ले जाती है।

जेतवन पटाचारा (थेरी)

२८८—न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा ।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता ॥ १६॥
(न सन्ति पुत्रास्त्राणाय न पिता नाऽपि बान्धवाः ।
अन्तकेनाऽधिपन्नस्य नाऽस्ति ज्ञातिषु त्राणता ॥१६॥)

अनुवाद——पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, न पिता, न बन्धुलोग ही । जब मृत्यु पकड़ता है, तो जातिवाले रक्षक नहीं हो सकते।

२८९—एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो ।
निब्बाण-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये ॥ १७॥
(एतमर्थवशं ज्ञात्वा पंडितः शीलसंवृतः ।
निर्वाणगमनं मार्गं क्षिप्रमेव विशोधयेत् ॥१७॥)

अनुवाद——इस बातको जानकर पंडित (नर) शीलवान् हो, निर्वाण की ओर लेजानेवाले मार्ग को शीघ्र ही साफ करे ।

२०—मार्गवर्ग समाप्त

२१—पकिण्णकवग्गो

राजगृह (वेणुवन)　　　　　　　　　　　　गङ्गावरोहण

२९०—मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्तासुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥ १ ॥

(मात्रासुखपरित्यागात् पश्येच्चेद् विपुलं सुखम् ।
त्यजेन्मात्रासुखं धीरः संपश्यन् विपुलं सुखम् ॥१॥)

अनुवाद—थोड़ेसे सुखके परित्यागसे यदि बुद्धिमान् विपुल सुख (का लाभ) देखे, तो विपुल सुखका ख्याल करके थोड़ेसे सुखको छोड़ दे ।

जेतवन　　　　　　　　　　　　कोई पुरुष

२९१—परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति ।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुच्चति ॥ २ ॥

(परदुःखोपादानेन य आत्मनः सुखमिच्छति ।
वैरसंसर्गसंसृष्टो वैरात् स न प्रमुच्यते ॥२॥)

अनुवाद—दूसरेको दुःख देकर जो अपने लिये सुख चाहता है, वैरके संसर्गमें पड़कर, वह वैरसे नहीं छूटता।

भद्दियनगर (जातियावन) भद्दिय (भिक्षु)

२९२—यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नलानं पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा ॥३॥

(यद्धि कृत्यं तद् अपविद्धं, अकृत्यं पुनः कुर्युः।
उन्मलानां प्रमत्तानां तेषां वर्द्धन्त आस्रवाः ॥३॥)

२९३—येसञ्च सुसमारद्धा निच्चं कायगता सति।
अकिच्चन्ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥४॥

(येषाञ्च सुसमारब्धा नित्यं कायगता स्मृतिः।
अकृत्यं ते न सेवन्ते कृत्ये सातत्यकारिणः।
स्मरतां* सम्प्रजानानां अस्तं गच्छन्त्यास्रवाः ॥४॥)

अनुवाद—जो कर्त्तव्य है, उसे (तो वह) छोड़ता है, जो अकर्तव्य है उसे करता है, ऐसे बढ़े मलवाले प्रमादियोंके आस्रव (=चित्तमल) बढ़ते हैं। जिन्हें कायामें (क्षणभंगुरता, मलिनता आदि दोष सम्बन्धी) स्मृति तय्यार रहती है, वह अकर्तव्यको नहीं करते, और कर्तव्यके निरन्तर करनेवाले होते हैं। जो स्मृति, और सम्प्रजन्य (=सचेतपन)को रखनेवाले होते हैं, उनके आस्रव अस्त हो जाते हैं।

* सताम्।

जेतवन लकुण्टक भद्दिय (थेर)

२९४—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये ।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥५॥

(मातरं पितरं हत्त्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ ।
राष्ट्रं साऽनुचरं हत्त्वाऽनघो याति ब्राह्मणः ॥५॥)

अनुवाद—माता (=तृष्णा), पिता (=अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं [=(१) आत्मा, ब्रह्म प्रकृति आदिकी नित्यताका सिद्धान्त, (२) मरणान्त जीवन मानना या जड़वाद], अनुचर(=राग)सहित राष्ट्र (=रूप, विज्ञान आदि संसारके उपादान पदार्थ)को मार कर ब्राह्मण (=ज्ञानी) निष्पाप होता है ।

२९५—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये ।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥६॥

(मातरं पितरं हत्त्वा राजानौ द्वौ च श्रोत्रियौ ।
व्याघ्रपंचमं हत्त्वाऽनघो याति ब्राह्मणः ॥६॥)

अनुवाद—माता, पिता, दो श्रोत्रिय राजाओं [=(१) नित्यतावाद, (२) जड़वाद] और पाँचवें व्याघ्र (=पाँच ज्ञानके आवरणों)को मारकर, ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है ।

राजगृह (वेणुवन) (दारुसाकटिकपुत्त)

२९६—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ॥७॥

(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं बुद्धगता स्मृतिः ॥७॥)

२९७—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ॥८॥

(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं धर्मगता स्मृतिः ॥८॥)

२९८—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं सङ्घगता सति ॥९॥

(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं संघगता स्मृतिः ॥९॥)

अनुवाद—जिनको दिन-रात बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है; वह गौतम(बुद्ध)के शिष्य खूब जागरूक रहते हैं। जिनको दिन-रात धर्म-विषयक स्मृति बनी रहती है ०। जिनको दिन-रात संघ-विषयक स्मृति बनी रहती है ०।

२९९—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ॥१०॥

(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते० । ०नित्यं कायगता स्मृतिः ॥१०॥)

३००—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ॥११॥

(सुप्रबुद्धं० । ०अहिंसायां रतं मनः ॥११॥)

२०१—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ॥ १२॥

(सुप्रबुद्धं० । ०भावनायां रतं मनः ॥१२॥)

अनुवाद——जिनको दिन-रात कायविषयक स्मृति बनी रहती है० । जिनका मन दिन-रात अहिंसामें रत रहता है० । जिनका मन दिन-रात भावना (=चित)में रत रहता है० ।

वैशाली (महावन) वज्जिपुत्तक (भिक्षु)

२०२—दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा ।
दुक्खोऽसमानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू ।
तस्मा न च अद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया ॥ १३॥

(दुष्प्रव्रज्यां दुरभिरामं दुरावासं गृहं दुःखम् ।
दुःखोऽसमानसंवासो दुखाऽनुपतितोऽध्वगः ।
तस्मान्न चाऽध्वगः स्यान्न च दुःखाऽनुपतितः स्यात् ॥१३॥)

अनुवाद——कष्टपूर्ण प्रव्रज्या(= संन्यास)में रत होना दुष्कर है, न रहने योग्य घर दुःखद है, अपमानके साथ बसना दुःखद है, मार्गका बटोही होना दुःखद है, इसलिये मार्गका बटोही न बने, न दुःखमें पतित होवे ।

जेतवन चित्त (गृहपति)

२०३—सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो ।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥ १४॥

(श्रद्धः शीलेन सम्पन्नो यशोभोगसमर्पितः ।
यं यं प्रदेशं भजते तत्र तत्रैव पूजितः ॥१४॥)

अनुवाद——श्रद्धावान्, शीलवान् यश और भोगसे युक्त (पुरुष) जिस जिस स्थानमें जाता है, वहीं वहीं पूजित होता है ।

जेतवन (चुल्ल) सुभद्दा

३०४—दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो 'व पब्बता ।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा ॥ १५॥

(दूरे सन्तः प्रकाशन्ते हिमवन्त इव पर्वताः ।
असन्तोऽत्र न दृश्यन्ते रात्रिक्षिप्ता यथा शराः ॥१५॥)

अनुवाद——सन्त (जन) दूर होनेपर भी हिमालय पर्वत (की) धवल चोटियोंकी भाँति प्रकाशते हैं, और असन्त यहीं (पासमें भी) होनेपर, रातमें फेंके बाणकी भाँति नहीं दिखलाई देते ।

जेतवन अकेले विहरनेवाले (थेर)

३०५—एकासनं एकसेय्यं एकोचरमतन्दितो ।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ॥ १६ ॥

(एकासन एकशय्य एकश्चरन्नतन्द्रितः ।
एको दमयन्नात्मानं वनान्ते रतः स्यात् ॥१६॥)

अनुवाद——एकही आसन रखनेवाला, एक शय्या रखनेवाला, अकेला विचरनेवाला (वन), आलस्यरहित हो, अपनेको दमन कर अकेला ही वनान्तमें रमण करे ।

२१—प्रकीर्णवर्ग समाप्त

२२—निरयवग्गो

जेतवन — सुन्दरी (परिव्राजिका)

३०६—अभूतवादी निरयं उपेति यो वापि
कत्वा ‘ न करोमी ’ ति चाह ।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥ १ ॥

(अभूतवादी निरयमुपैति,
यो वाऽपि कृत्वा ‘न करोमी’ ति चाह ।
उभावपि तौ प्रेत्य समा भवतो
निहीनकर्माणौ मनुजौः परत्र ॥१॥

अनुवाद——असत्यवादी नरकमें जाते हैं, और वह भी जो कि करके ‘नहीं किया’—कहते हैं । दोनों ही प्रकारके नीचकर्म करने वाले मनुष्य मरकर समान होते हैं ।

राजगृह (वेणुवन) — (पाप फलानुभवी प्राणी)

३०७—कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असञ्ञता ।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते उप्पज्जरे ॥ २ ॥

(काषायकंठा बहवः पापधर्मा असंयताः ।
पापाः पापैः कर्मभिर्निरयं त उत्पद्यन्ते ॥२॥)

अनुवाद——कंठमें काषाय(-वस्त्र) डाले कितने ही पापी असंयमी हैं; जो पापी कि (अपने) पाप कर्मोंसे नरकमें उत्पन्न होते हैं।

वैशाली   (वग्गुमुदातीरवासी भिक्षु)

३०८—सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥३॥

(श्रेयान् अयोगोलो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिंडं असंयतः ॥३॥)

अनुवाद——असंयमी दुराचारी हो राष्ट्रका पिंड [=देशका अन्न] खानेसे अग्नि-शिखाके समान तप्त लोहेका गोला खाना उत्तम है।

जेतवन   खेम (श्रेष्ठीपुत्र)

३०९—चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जती परदारूपसेवी ।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ॥४॥

(चत्वारि स्थानानि नरः प्रमत्त आपद्यते परदारोपसेवी ।
अपुण्यलाभं न निकामशय्यां
निन्दां तृतीयां निरयं चतुर्थम् ॥ ४ ॥)

३१०—अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका,
भीतस्स भीताय रती च थोकिका ।

राजा च दण्डं गरुकं पणेति
　　तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥५॥

(अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका,
　　भीतस्य भीतया रतिश्च स्तोकिका।
राजा च दंडं गुरुकं प्रणयति
　　तस्मात् नरो परदारान् न सेवेत ॥ ५ ॥)

अनुवाद—प्रमादी परस्त्रीगामी मनुष्यकी चार गतियाँ हैं—अपुण्यका लाभ, सुखसे न निद्रा, तीसरे निन्दा, और चौथे नरक। (अथवा) अपुण्यलाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष)की, भयभीत (स्त्री)से अत्यल्प रति, और राजाका भारी दंड देना; इसलिये मनुष्यको परस्त्रीगमन न करना चाहिये।

जेतवन　　कटुभाषी (भिक्षु)

३११—कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकन्तति।
　　सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायुपकड्ढति ॥६॥

(कुशो यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवाऽनुकृन्तति।
　　श्रामण्यं दुष्परामृष्टं निरयायोपकर्षति ॥ ६ ॥)

अनुवाद—जैसे ठीकसे न पकड़नेसे कुश हाथको ही छेदता है, (इसी प्रकार) श्रमणपन (=संन्यास) ठीकसे ग्रहण न करनेपर नरकमें ले जाता है।

३१२—यं किञ्चि सिथिलं कम्मं सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
　　सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलं ॥७॥

(यत् किंचित् शिथिलं कर्म संक्लिष्टं च यद् व्रतम् ।
संकृच्छ्रं ब्रह्मचर्यं न तद् भवति महत्फलम् ॥ ७ ॥)

अनुवाद—जो कर्म कि शिथिल है, जो व्रत कि क्लेश (=मल)-युक्त है, और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है, वह महाफल (-दायक) नहीं होता ।

३१३—कयिरञ्चे कयिराथेनं दळ्हमेनं परक्कमे ।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं ॥८॥

(कुर्याच्चेत् कुर्वीतैनद् दृढमेतत् पराक्रमेत ।
शिथिलो हि परिव्राजको भूय आकिरते रजः ॥ ८ ॥)

अनुवाद—यदि (प्रव्रज्या कर्म) करना है, तो उसे करे, उसमें दृढ़ पराक्रमके साथ लग जावे; ढीला ढाला परिव्राजक (= संन्यासी) अधिक मल बिखेरता है ।

जेतवन (कोई ईर्ष्यालु स्त्री)

३१४—अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं ।
कतञ्च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ॥९॥

(अकृतं दुष्कृतं श्रेयः पश्चात् तपति दुष्कृतम् ।
कृतं च सुकृतं श्रेयो यत् कृत्वा नाऽनुतप्यते ॥९॥)

अनुवाद—दुष्कृत (=पाप)का न करना श्रेष्ठ है, दुष्कृत करनेवाला पीछे अनुताप करता है; सुकृतका करना श्रेष्ठ है, जिसको करके (मनुष्य) अनुताप नहीं करता ।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

३१५—नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥

(नगरं यथा प्रत्यन्तं गुप्तं सान्तर्बाह्यम्।
एवं गोपयेदात्मानं क्षणं वै मा उपातिगाः।
क्षणाऽतीता हि शोचन्ति निरये समर्पिताः ॥१०॥)

अनुवाद—जैसे सामान्तका नगर (=गढ़) भीतर बाहरसे खूब रक्षित होता है, इसी प्रकार अपनेको रक्षित रक्खे, क्षण भर भी न छोड़े; क्षण चूक जानेपर नरकमें पड़कर शोक करना पड़ता है।

जेतवन (जैनसाधु)

३१६—अलज्जिता ये लज्जन्ति लज्जिता ये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥११॥

(अलज्जिता ये लज्जन्ते लज्जिता ये न लज्जन्ते।
मिथ्यादृष्टि-समादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥११॥)

अनुवाद—अलज्जा(के काम)में जो लज्जा करते हैं, और लज्जा (के काम)में जो लज्जा नहीं करते, वह झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं।

३१७—अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१२॥

(अभये च भयदर्शिनो भये चाऽभयदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥१२॥)

अनुवाद—भयरहित(काम)में जो भय देखते हैं, और भय (के काम)में भयको नहीं देखते, वह झूठी धारणावाले० ।

जेतवन (तीथिक-शिष्य)

३१८—अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठि० ॥१३॥

(अवद्ये वद्यमतयो वद्ये चाऽवद्यदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टि० ॥१३॥)

अनुवाद—जो अदोषमें दोषबुद्धि रखनेवाले हैं, (और) दोषमें अदोष दृष्टि रखनेवाले, वह झूठी धारणावाले० ।

३१९—वज्जञ्च वज्जतो ञत्वा अवज्जञ्च अवज्जतो ।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥१४॥

(वद्यं* च वद्यतो ज्ञात्वाऽवद्यं चावद्यतः ।
सम्यग्दृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति सुगतिम् ॥१४॥)

अनुवाद—दोषको दोष जानकर और अदोषको अदोष जानकर, ठीक धारणावाले प्राणी सुगतिको प्राप्त होते हैं ।

२२—*निरयवग्ग समाप्त*

---

*वद्यं=वर्ज्यम् ।

२३—नागवग्गो

जेतवन आनन्द (थेर)

३२०—अहं नागो'व सङ्गामे चापतो पतितं सरं ।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥ १ ॥

(अहं नाग इव संग्रामे चापतः पतितं शरम् ।
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये, दुःशीला हि बहुजनाः ॥१॥)

अनुवाद—जैसे युद्धमें हाथी धनुषसे गिरे शरको (सहन करता है) वैसेही मैं कटुवाक्योंको सहन करूँगा; (संसारमें तो) दुःशील आदमी ही अधिक हैं ।

३२१—दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति ।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु यो'तिवाक्यं तितिक्खति ॥२॥

(दान्तं नयन्ति समितिं दान्तं राजाऽभिरोहति ।
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु योऽतिवाक्यं तितिक्षते ॥२॥)

अनुवाद—दान्त (=शिक्षित) (हाथी)को युद्धमें ले जाते हैं,

दान्तपर राजा चढ़ता है, मनुष्योंमें भी दान्त (=सहनशील) श्रेष्ठ है, जो कि कटुवाक्योंको सहन करता है।

३२२—वरं अस्सतरा दन्ता आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्तो ततो वरं ॥३॥

(वरमश्वतरा दान्ता आजानीयाश्च सिंधवः।
कुंजराश्च महानागा आत्मदान्तस्ततो वरम् ॥३॥)

अनुवाद——खच्चर, उत्तम खेतके सिन्धी घोड़े, और महानाग हाथी दान्त (=शिक्षित) होनेपर श्रेष्ठ हैं, और अपने को दमन किया (पुरुष) उनसे भी श्रेष्ठ है।

जेतवन (भूतपूर्व महावत भिक्षु)

३२३—नहि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथाऽत्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ॥४॥

(नहि एतैर्यानैः गच्छेदगतां दिशाम्।
यथा ऽऽत्मना सुदान्तेन दान्तो दान्तेन गच्छति ॥४॥)

अनुवाद——इन (हाथी, घोड़े आदि) यानोंसे, बिना गई दिशा वाले (निर्वाण)की ओर नहीं जाया जा सकता, संयमी पुरुष अपनेको संयम कर संयत (इन्द्रियों)के साथ (वहाँ) पहुँच सकता है।

जेतवन (परिजिण्ण ब्राह्मणपुत्त)

३२४—धनपालको नाम कुञ्जरो कटकप्पभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कवलं न भुञ्जति सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥५॥

(धनपालको नाम कुंजरो कटकप्रभेदनो दुर्निवार्यः ।
बद्धः कवलं न भुंक्ते, स्मरति नागवनं कुंजरः ॥५॥)

अनुवाद—सेनाको तितर बितर करने वाला, दुर्धर्ष धनपालक नामक हाथी, (आज) बन्धनमें पड़ जाने पर कवल नहीं खाता, और (अपने) हाथियोंके जंगलको स्मरण करता है ।

जेतवन पसेनदी (कोसलराज)

३२५—मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी ।
महावराहो 'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥६॥

(मृद्धो यदा भवति महाघसश्च निद्रायितः सपरिवर्तशायी ।
महावराह इव निवाप-पुष्टः पुनः पुनः गर्भमुपैति मन्दः ॥६॥)

अनुवाद—जो (पुरुष) आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल बदल सोने वाला, तथा दाना देकर पले मोटे सूअर की भाँति, होता है; वह मन्द बार बार गर्भमें पड़ता है ।

जेतवन (सामणेर)

३२६—इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थ कामं यथासुखं ।
तदज्ज 'हं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥७॥

(इदं पुरा चित्तमचरत् चारिकां
यथेच्छं यथाकामं यथासुखम् ।
तदद्याऽहं निग्रहीष्यामि योनिशो
हस्तिनं प्रभिन्नमिवांकुशग्राहः ॥७॥)

अनुवाद—यह (मेरा) चित्त पहिले यथेच्छ=यथाकाम, जैसे सुख मालूम हुआ वैसे विचरनेवाला था; सो आज महावत जैसे मतवाले हाथीको (पकड़ता है, वैसे) मैं उसे जड़से पकड़ूँगा।

जेतवन कोसलराजका पावेय्यक नामक हाथी

३२७—अप्पमादरता होथ स-चित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथ'त्तानं पङ्के सत्तो'व कुञ्जरो ॥८॥
(अप्रमादरता भवत स्वचित्तमनुरक्षत।
दुर्गादुद्धरताऽऽत्मानं पंके सक्त इव कुंजरः ॥८॥)

अनुवाद—अप्रमाद (=सावधानता)में रत होओ, अपने मनकी रक्षा करो, पंकमें फँसे हाथीकी तरह (राग आदिमें फँसे) अपनेको ऊपर निकालो।

पारिलेय्यक बहुतसे भिक्षु

३२८—सचे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेन'त्तमनो सतीमा ॥९॥
(स चेत् लभेत निपकं सहायं
सार्द्धं चरन्तं साधुविहारिणं धीरम्।
अभिभूय सर्वान् परिश्रयान्
चरेत् तेनाऽऽत्तमनाः स्मृतिमान् ॥९॥)

अनुवाद—यदि परिपक्व (– बुद्धि) बुद्धिमान् साथमें विहरनेवाला (= शिष्य) सहचर मित्र मिले, तो सभी परिश्रयों (= विघ्नों)को हटाकर सचेत प्रसन्नचित्त हो उसके साथ विहार करे।

३२९—नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा 'व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्ग 'रञ्ञेव नागो ॥१०॥

(न चेत् लभेत निपकं सहायं
सार्द्धं चरन्तं साधुविहारिणं धीरम्।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय,
एकश्चरेत् मातंगोऽरण्य इव नागः ॥१०॥)

अनुवाद—यदि परिपक्व, बुद्धिमान् साथमें विहरनेवाला सहचर मित्र न मिले, तो राजाकी भाँति पराजित राष्ट्रको छोड़ गजराज हाथीकी तरह अकेला विचरे।

३३०—एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायिता।
एको चरे न च पापानि कयिरा
अप्पोस्सुको मातङ्ग 'रञ्ञे'व नागो ॥११॥

(एकस्य चरितं श्रेयो नाऽस्ति बाले सहायता।
एकश्चरेत् न च पापानि कुर्याद्
अल्पोत्सुको मातंगोऽरण्य इव नागः ॥११॥)

अनुवाद—अकेला विचरना उत्तम है, (किन्तु) मूढ़की मित्रता अच्छी नहीं, मातंगराज हाथीकी भाँति अनासक्त हो अकेला विचरे और पाप न करे।

हिमवत्-प्रदेश मार

२३१—अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया
तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसंङ्खयम्हि
सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहाणं ॥१२॥

(अर्थे जाते सुखाः सहायाः, तुष्टिः सुखा येतरेतरेण।
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये
सर्वस्य दुःखस्य सुखं प्रहाणम् ॥ १२ ॥)

अनुवाद—काम पड़नेपर मित्र सुखद (लगते हैं); परस्पर सन्तोष हो (यह भी) सुखद (वस्तु) है, जीवनके क्षय होने पर (किया हुआ) पुण्य सुखद (होता है); सारे दुःखोंका विनाश (=अर्हत् होना) (यह सबसे अधिक) सुखद है।

२३२—सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥

(सुखा मात्रीयता लोकेऽथ पित्रीयता सुखा।
सुखा श्रमणता लोकेऽथ ब्राह्मणता सुखा ॥ १३ ॥)

अनुवाद—लोकमें माताकी सेवा सुखकर है, और पिताकी सेवा

(भी) सुखकर है, श्रमणभाव (=संन्यास) लोकमें सुखकर है, और ब्राह्मणपन (=निष्पाप होना) सुखकर है।

३३३—सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता ।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ॥१४॥

(सुखं यावद् जरां शीलं सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता ।
सुखः प्रज्ञायाः प्रतिलाभः पापानां अकरणं सुखम् ॥ १४॥)

अनुवाद—बुढ़ापेतक आचारका पालन करना सुखकर है, और स्थिर श्रद्धा (सत्यमें विश्वास) सुखकर है, प्रज्ञाका लाभ सुखकर है, और पापोंका न करना सुखकर है।

२३—नागवर्ग समाप्त

---

२४ तण्हावग्गो

जेतवन — कपिलमच्छ

३३४—मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय ।
सो पलवती हुराहुरं फलमिच्छं 'व वनस्मिं वानरो ॥१॥

(मनुजस्य प्रमत्तचारिणः तृष्णा वर्द्धते मालुवेव ।
स प्लवतेऽहरहः फलमिच्छन् इव वने वानरः ॥ १ ॥)

अनुवाद——प्रमत्त होकर आचरण करनेवाले मनुष्यकी तृष्णा मालुवा (लता)की भाँति बढ़ती है, वनमें वानरकी भाँति फलकी इच्छा करते दिनोंदिन वह भटकता रहता है ।'

३३५—यं एसा सहती जम्मि तण्हा लोके विसत्तिका ।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढं 'व वीरणं ॥२॥

(यं एषा साहयति जन्मिनी तृष्णा लोके विषात्मिका ।
शोकास्तस्य प्रवर्द्धन्तेऽभिवर्द्धमानं इव वीरणम् ॥ २ ॥)

अनुवाद——यह (बराबर) जनमते रहनेवाली विषरूपी तृष्णा जिसको पकड़ती है, वर्द्धनशील वीरण (=चटाई बनानेका एक तृण) की भाँति उसके शोक बढ़ते हैं ।

३३६—यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं ।
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दू 'व पोक्खरा ॥३॥
(यश्चैतां साहयति जन्मिनीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम् ।
शोकाः तस्मात् प्रपतन्त्युदबिन्दुरिव पुष्करात् ॥ ३ ॥)

अनुवाद——इस बराबर जनमते रहनेवाली, दुस्त्याज्य तृष्णाको जो लोकमें परास्त करता है, उससे शोक (वैसेही) गिर जाते हैं, जैसे कमल(-पत्र)से जलका बिन्दु ।

३३७—तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता ।
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो 'व बीरणं ॥४॥
(तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्त इह समागताः ।
तृष्णाया मूलं खनतोशीरार्थीव वीरणम् ॥ ४ ॥)

अनुवाद——इसलिये तुम्हें कहता हूँ, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारा सबका मंगल हो, जैसे खसके लिये लोग उपीरको खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णाकी जड़को खोदो ।

जेतवन गूथ-सूकर-पोतिक

३३८—यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे
छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति ।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते
निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥५॥
(यथाऽपि मूलेऽनुपद्रवे दृढे छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरेव रोहति ।
एवमपि तृष्णाऽनुशयेऽनिहते निर्वर्तते दुःखमिदं पुनः पुनः ॥५॥)

अनुवाद—जैसे जड़के दृढ़ और न कटी होनेपर कटा हुआ भी वृक्ष फिर उग आता है, इसी प्रकार तृष्णारूपी अनुशय (=मल)के न नष्ट होनेपर, यह दुःख फिर फिर पैदा होता है।

२३९—यस्स छत्तिंसती सोता मनापस्सवना भुसा।
वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥६॥

(यस्य षट्त्रिंशत् स्रोतांसि मनापश्रवणानि भूयासुः।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टिं संकल्पा रागनिःसृताः ॥ ६ ॥)

अनुवाद—जिसके, छत्तीस स्रोत* मनको अच्छी लगनेवाली (चीजों) को ही लानेवाले हों, (उसके लिए) रागलिप्त संकल्प रूपी वाहन बुरी धारणाओंको वहन करते हैं।

२४०—सवन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तञ्च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥७॥

(स्रवन्ति सर्वतः स्रोतांसि लता उद्भिद्य तिष्ठति।
तां च दृष्ट्वा लतां जातां, मूलं प्रज्ञया छिन्दत ॥७॥)

अनुवाद—(यह) स्रोत चारों ओर बहते हैं, (जिनके कारण) (तृष्णा रूपी) लता अंकुरित रहती है; उस

---

*आँख, कान, नाक, जीभ, काया [=चर्म], मन, रूप, गंध, शब्द, रस, स्पर्श, धर्म [=मनका विषय], आँखका विज्ञान [=आँखसे होनेवाला ज्ञान], और कान, नाक, जीभ, काया तथा मनके विज्ञान; यही भीतरी और बाहरी भेदसे छत्तीस स्रोत होते हैं।

उत्पन्न हुई लताको जानकर, प्रज्ञासे (उसकी) जड़को काटो ।

३४१—सरितानि सिनेहितानि च सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो ।
ते सोतसिता सुखेसिनो ते वे जाति-जरूपगा नरा ॥८॥

(सरितः स्निग्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः ।
ते स्रोतःसृताः सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नराः ॥८॥)

अनुवाद—(यह) (तृष्णा रूपी) नदियाँ स्निग्ध और प्राणियोंके चित्तको खुश रखनेवाली होती हैं; (जिनके कारण) नर स्रोतमें बंधे, सुखकी खोज करते, जन्म और जराके फेरमें पड़ते हैं ।

३४२—तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो 'व बाधितो ।
सञ्ञोजनसङ्ग सत्तका दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥९॥

(तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः परिसर्पन्ति शश इव बद्धः ।
संयोजनसंगसक्तका दुःखमुपयन्ति पुनः पुनः चिराय ॥९॥)

अनुवाद—तृष्णाके पीछे पड़े प्राणी, बंधे खरगोशकी भाँति चक्कर काटते हैं; संयोजनों (=मनके बंधनों)में फँसे (जन) पुनः पुनः चिरकाल तक दुःखको पाते हैं ।

३४३—तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो'व बाधितो ।
तस्मा तसिनं विनोदये भिक्खू अकङ्खी विरागमत्तनो ॥१०॥

(तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः
परिसर्पन्ति शश इव बद्धः ।

तस्मात् तृष्णां विनोदयेद्
भिक्षुराकांक्षी विरागमात्मनः ॥१०॥)

अनुवाद——तृष्णाके पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोशकी भाँति चक्कर काटते हैं; इसलिए भिक्षुको चाहिए कि वह अपने वैराग्यकी इच्छा रख, तृष्णाको दूर करे।

वेणुवन विभन्तक (भिक्षु)

३४४—यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥११॥
(यो निर्वाणार्थी वनाऽधिमुक्तो
वनमुक्तो वनमेव धावति।
तं पुद्गलमेव पश्यत मुक्तो
बन्धनमेव धावति ॥११॥)

अनुवाद——जो निर्वाणकी इच्छा वाला (पुरुष) वन(=तृष्णा)से मुक्त हो, वनसे सुमुक्त हो, फिर वन (=तृष्णा) ही की ओर दौड़ता है, उस व्यक्तिको (वैसे ही) जानो जैसे कोई (बन्धन)से मुक्त (पुरुष) फिर बन्धन ही की ओर दौड़े।

जेतवन बन्धनागार

३४५—न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं पब्बजञ्च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥ १२॥
(न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा
यद् आयसं दारुजं पर्वजं च।

सारवद्-रक्ता मणिकुंडलेषु
पुत्रेषु दारेषु च याऽपेक्षा ॥१२॥)

अनुवाद—(यह) जो लोहे लकड़ी या रस्सीका बन्धन है, उसे बुद्धिमान (जन) दृढ़ बन्धन नहीं कहते, (वस्तुतः दृढ़ बन्धन है जो यह) धन(=सारवत्)में रक्त होना, या मणि, कुण्डल, पुत्र स्त्रीमें इच्छाका होना है।

३४६—एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा
ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतम्पि छेत्वान परिब्बजन्ति
अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥१३॥

(एतद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा
अपहारि शिथिलं दुष्प्रमोचम्।
एतदपि छित्वा परिव्रजन्त्य-
-नपेक्षिणः कामसुखं प्रहाय ॥१३॥)

अनुवाद—धीर पुरुष इसीको दृढ़ बन्धन, अपहारक शिथिल और दुस्त्याज्य कहते हैं; (वह) अपेक्षा रहित हो, तथा काम-सुखोंको छोड़, इस (दृढ़) बन्धनको छिन्नकर, प्रव्रजित होते हैं।

राजगृह (वेणुवन) खेमा (बिम्बसार-महिषी)

३४७—ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सयं कतं मक्कटको 'व जालं।
एतम्पि छेत्वान वजन्ति धीरा
अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥१४॥

(ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः
स्वयंकृतं मर्कटक इव जालम् ।
एतदपि छित्त्वा व्रजन्ति धीरा
अनपेक्षिणः सर्वदुःखं प्रहाय ॥१४॥)

अनुवाद—जो रागमें रक्त हैं, वह जैसे मकड़ी अपने बनाये जालमें पड़ती है, (वैसे ही) अपने बनाये, स्रोतमें पड़ते हैं, धीर (पुरुष) इस (स्रोत)को भी छेद कर सारे दुःखोंको छोड़ आकांक्षा रहित हो चल देते हैं ।

राजगृह (वेणुवन) उग्गसेन (श्रेष्ठी)

३४८—मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू ।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥ १५॥

(मुंच पुरो मुंच पश्चात् मध्ये मुंच भवस्य पारगः ।
सर्वत्र विमुक्तमानसो न पुनः जातिजरे उपैषि ॥१५॥)

अनुवाद—आगे पीछे और मध्यकी (सभी वस्तुओंको) त्याग दो, (और उन्हें छोड़) भव(सागर)के पार हो जाओ; जिसका मन चारों ओरसे मुक्त हो गया, (वह) फिर जन्म और जरा को प्राप्त नहीं होता ।

जेतवन (चुल्ल) धनुग्गह पंडित

३४९—वितक्कपमथितस्स जन्तुनो तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो ।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति एसो खो दळ्हं करोति बन्धनं ॥ १६॥

(वितर्क-प्रमथितस्य जन्तोः
तीव्ररागस्य शुभाऽनुदर्शिनः ।
भूयः तृष्णा प्रवर्द्धते एष खलु दृढं करोति बन्धनम् ॥१६॥)

अनुवाद——जो प्राणी सन्देहसे मथित, तीव्र रागसे युक्त, सुन्दर ही सुन्दरको देखने वाला है, उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है, वह (अपनेलिए) और भी दृढ़ बन्धन तय्यार करता है।

३५०—वितक्कूपसमे च यो रतो असुभं भावयति सदा सतो।
एस खो व्यन्तिकाहिनी एसच्छेज्जति मारबन्धनं ॥१७॥

(वितर्कोपशमे च यो रतो
ऽशुभंभावयते सदा स्मृतः।
एष खलु व्यन्तीकरिष्यति
एष छेत्स्यति मारबन्धनम् ॥१७॥)

अनुवाद——सन्देहके शान्त करनेमें जो रत है, सचेत रह (जो) अशुभ (दुनियाके अंधेरे पहलू) की भी सदा भावना करता है। वह मारके बन्धनको छिन्न करेगा, विनाश करेगा।

जेतवन मार

३५१—निट्ठङ्गतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो।
उच्छिज्ज भवसल्लानि अन्तिमो'यं समुस्सयो ॥१८॥

(निष्ठांगतोऽसंत्रासी वीततृष्णोऽनंगणः।
उत्सृज्य भवशल्यानि, अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः ॥१८॥)

अनुवाद——जिसके (पाप-पुण्य) समाप्त हो गये; जो त्रास-उत्पादक नहीं है, जो तृष्णारहित और मलरहित है, वह भवके शल्योंको उखाड़ेगा, यह उसका अंतिम देह है।

३५२—वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च।
स वे अन्तिमसारीरो महापञ्ञो'ति वुच्चति ॥१९॥

(वीततृष्णोऽनादानो निरुक्तिपदकोविदो।
अक्षराणां सन्निपातं जानाति पूर्वापराणि च।
स वै अन्तिमशारीरो महाप्राज्ञ इत्युच्यते ॥१९॥)

अनुवाद—जो तृष्णारहित, परिग्रहरहित, भाषा और काव्यका जानकार है; और (जो) अक्षरोंके पहिले पीछे रखनेको जानता है, वह निश्चय ही अन्तिम शरीर वाला तथा महाप्राज्ञ कहा जाता है।

वाराणसीसे गयाके रास्तेमें　　उपक (आजीवक)

३५३—सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥२०॥

(सर्वाभिभूः सर्वविदहमस्मि सर्वेषु धर्मेष्वनुपलिप्तः।
सर्वंजहः तृष्णाक्षये विमुक्तः
स्वयमभिज्ञाय कमुद्दिशेयम् ॥ २० ॥)

अनुवाद—मैं (राग आदि) सभीका परास्त करनेवाला हूँ, (दुःखसे मुक्ति पानेकी) सभी (बातों)का जानकार हूँ, सभी धर्मों (=पदार्थों)में अलिप्त हूँ, सर्वत्यागी, तृष्णाके नाशसे

मुक्त हूँ, (विमल ज्ञानको) अपने ही जानकर (मैं अब)
किसको (अपना गुरु) बतलाऊँ ?

जेतवन सक्क देवराज

३५४—सब्बदानं धम्मदानं जिनाति
सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति ।
सब्बं रतिं धम्मरती जिनाति
तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

(सर्वदानं धर्मदानं जयति
सर्वं रसं धर्मरसो जयति ।
सर्वां रतिं धर्मरतिर्जयति
तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जयति ॥ २१ ॥)

अनुवाद—धर्मका दान सारे दानोंसे बढ़कर है, धर्मरस सारे रसोंसे प्रबल है, धर्ममें रति सब रतियोंसे बढ़कर है, तृष्णाका विनाश सारे दुःखोंको जीत लेता है।

जेतवन (अपुत्रक श्रेष्ठी)

३५५—हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे पारगवेसिनो ।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञे'व अत्तनं ॥२२॥

(घ्नन्ति भोगा दुर्मेधसं न चेत् पारगवेषिणः ।
भोगतृष्णया दुर्मेधा हन्त्यन्य इवात्मनः ॥ २२ ॥)

अनुवाद—(संसारको) पार होनेकी कोशिश न करनेवाले दुर्बुद्धि (पुरुष)को भोग नष्ट करते हैं, भोगकी तृष्णामें पड़कर (वह) दुर्बुद्धि परायेकी भाँति अपने हीको हनन करता है।

पाण्डुकम्बलशिला (देवलोक) अङ्कुर

३५६—तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२३॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि रागदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतरागेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २३ ॥)

अनुवाद—खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजा (=मनुष्यों)का दोष राग है, इसलिये (दान) वीतराग (पुरुष)को देनेमें महाफलप्रद होता है ।

३५७—तिणदोसानि खेत्तानि दोसदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२४॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि द्वेषदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतद्वेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २४ ।)

अनुवाद—खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजाका दोष द्वेष है; इसलिये वीतद्वेष (=द्वेषरहित)को देनेमें महाफल होता है ।

३५८—तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२५॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि मोहदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतमोहेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २५ ॥)

अनुवाद—खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजाका दोष मोह है; इसलिये वीतमोह(=मोहरहित)को देनेमें महाफल होता है ।

२५९—तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसो अयं पजा ।
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२६॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि, इच्छादोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि विगतेच्छेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २६ ॥)

अनुवाद——खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजाका दोष इच्छा है; इसलिये विगतेच्छ(=इच्छारहित)को देनेमें महाफल होता है ।

२४—तृष्णावर्ग समाप्त

२५—भिक्खुवग्गो

जेतवन | पाँच भिक्षु

३६०—चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो ।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ॥१॥

(चक्षुषा संवरः साधुः, साधुः श्रोत्रेण संवरः ।
घ्राणेन संवरः साधुः, साधुः जिह्वया संवरः ॥१॥)

अनुवाद—आँखका संवर (=संयम) ठीक है, ठीक है कानका संवर,
घ्राण(=नाक)का संवर ठीक है, ठीक है जीभका संवर ।

३६१—कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो ।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो ।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खू सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥२॥

(कायेन संवरः साधुः साधुः वाचा संवरः ।
मनसा संवरः साधुः, साधुः सर्वत्र संवरः ।
सर्वत्र संवृतो भिक्षुः सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥२॥)

अनुवाद—कायाका संवर (=संयम) ठीक है, ठीक है वचनका संवर; मनका संवर ठीक है, ठीक है सर्वत्र (इन्द्रियों)का संवर; सर्वत्र संवर-युक्त भिक्षु सारे दुःखोंसे छूट जाता है।

जेतवन हंसघातक (भिक्षु)

३६२—हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खू ॥३॥

(हस्तसंयतः पादसंयतो वाचा संयतः संयतोत्तमः।
अध्यात्मरतः समाहित एकः सन्तुष्टस्तमाहुर्भिक्षुम् ॥३॥)

अनुवाद—जिसके हाथ, पैर और वचनमें संयम है, (जो) उत्तम संयमी है, जो घटके भीतर (=अध्यात्म) रत, समाधियुक्त, अकेला (और) सन्तुष्ट है, उसे भिक्षु कहते हैं।

जेतवन कोकालिय

३६३—यो मुखसञ्ञतो भिक्खू मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ॥४॥

(यो मुखसंयतो भिक्षुर्मंत्रभाणी अनुद्धतः।
अर्थं धर्मं च दीपयति मधुरं तस्य भाषितम् ॥४॥)

अनुवाद—जो मुखमें संयम रखता है, मनन करके बोलता है, उद्धत नहीं है, अर्थ और धर्मको प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है।

जेतवन धम्माराम (थेर)

३६४—धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खू सद्धम्मा न परिहायति ॥५॥

(धर्मारामो धर्मरतो धर्मं अनुविचिन्तयन् ।
धर्ममनुस्मरन् भिक्षुः सद्धर्मान्न परिहीयते ॥५॥)

अनुवाद—धर्ममें रमण करनेवाला, धर्ममें रत, धर्मका चिन्तन करते, धर्मका अनुस्मरण करते भिक्षु सच्चे धर्मसे च्युत नहीं होता ।

राजगृह (वेणुवन) विपक्ख-सेवक (भिक्खु)

३६५—सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे ।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खू समाधिं नाधिगच्छति ॥६॥

(स्वलाभं नाऽतिमन्येत, नाऽन्येषां स्पृहयन्, चरेत् ।
अन्येषां स्पृहयन् भिक्षुः समाधिं नाऽधिगच्छति ॥६॥)

अनुवाद—अपने लाभकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए । दूसरोंके (लाभ)की स्पृहा न करनी चाहिये । दूसरोंके (लाभकी) स्पृहा करनेवाला भिक्षु समाधि(=चित्तकी एकाग्रता)को नहीं प्राप्त करता ।

३६६—अप्पलाभोपि चे भिक्खू स-लाभं नातिमञ्ञति ।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥७॥

(अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षुः स्वलाभं नाऽतिमन्यते ।
तं वै देवाः प्रशंसन्ति शुद्धाऽऽजीवं अतन्द्रितम् ॥७॥)

अनुवाद—चाहे अल्प ही हो, भिक्षु अपने लाभकी अवहेलना न करे । उसीकी देवता प्रशंसा करते हैं, (जो) शुद्ध जीविकावाला और आलस्यरहित है ।

जेतवन (पाँच अग्रदायक भिक्षु)

३६७—सब्बसो नाम-रूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं ।
असता च न सोचति स वे भिक्खूति वुच्चति ॥८॥

(सर्वशो नामरूपे यस्य नाऽस्ति ममायितम् ।
असति च न शोचति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥८॥)

अनुवाद—नाम-रूप(=जगत)में जिसकी बिल्कुल ही ममता नहीं, न होनेपर (जो) शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

३६८—मेत्ताविहारी यो भिक्खू पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥९॥

(मैत्रीविहारी यो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥९॥)

अनुवाद—मैत्री(-भावना)से विहार करता जो भिक्षु बुद्धके उपदेशमें प्रसन्न (=श्रद्धावान्) रहता है, (वह) सभी संस्कारोंको शमन करनेवाले शान्त (और) सुखमय पदको प्राप्त करता है।

३६९—सिञ्च भिक्खू ! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति ।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बाणमेहिसि ॥१०॥
(सिंच भिक्षो ! इमां नावं सिक्ता ते लघुत्वं एष्यति ।
छित्वा रागं च द्वेषं च ततो निर्वाणमेष्यसि ॥१०॥)

अनुवाद—हे भिक्षु ! इस नावको उलीचो, उलीचने पर (यह) तुम्हारे लिये हल्की हो जायेगी। राग और द्वेपको छेदनकर, फिर तुम निर्वाणको प्राप्त होगे।

३७०—पंच छिन्दे पञ्च जहे पञ्चुत्तरि भावये।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खू ओघतिण्णो'ति वुच्चति ॥११॥

(पंच छिन्धि पंच जहीहि पंचोत्तरं भावय।
पंचसंगाऽतिगो भिक्षुः, 'ओघतीर्ण' इत्युच्यते ॥११॥)

अनुवाद—(जो रूप, राग, मान, उद्धतपना और अविद्या इन) पाँचको छेदन करे; (जो नित्य आत्माकी कल्पना, सन्देह, शील-व्रत पर अधिक जोर, भोगोंमें राग, और प्रतिहिंसा इन) पाँचको त्याग करे; उपरान्त (जो श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) इन पाँचकी भावना करे; (जो, राग, द्वेष, मोह, मान, और झूठी धारणा इन) पाँचके संसर्गको अतिक्रमण कर चुका है; (वह काम, भव दृष्टि और अविद्यारूपी) ओघों(=बाढ़ों)से उत्तीर्ण हुआ कहा जाता है।

३७१—झाय भिक्खू ! मा च पामदो
मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो
मा कंदी दुक्खमिदन्ति डय्हमानो ॥१२॥

(ध्याय भिक्षो ! मा च प्रमादः,
मा ते कामगुणे भ्रमतु चित्तम्।

मा लोहगोलं गिल प्रमत्तः,
मा क्रन्दीः दुःखमिदमिति दह्यमानः ॥१२॥)

अनुवाद—हे भिक्षु ! ध्यानमें लगो, मत गफलत करो, तुम्हारा चित्त मत भोगोंके चक्करमें पड़े, प्रमत्त होकर मत लोहेके गोलेको निगलो, '(हाय !) यह दुःख' कहकर दग्ध होते (पीछे) मत तुम्हें क्रन्दन करना पड़े ।

३७२—नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो ।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाणसन्तिके ॥१३॥

(नाऽस्ति ध्यानमप्रज्ञस्य प्रज्ञा नाऽस्त्यध्यायतः ।
यस्मिन् ध्यानं च प्रज्ञा च स वै निर्वाणाऽन्तिके ॥१३॥)

अनुवाद—प्रज्ञाविहीन (पुरुष)को ध्यान नहीं (होता) है, ध्यान (एकाग्रता) न करनेवालेको प्रज्ञा नहीं हो सकती । जिसमें ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाणके समीप है ।

३७३—सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो ।
अमानुसी रती होति सम्माधम्मं विपस्सतो ॥१४॥

(शून्यागारं प्रविष्टस्य शान्तचित्तस्य भिक्षोः ।
अमानुषी रतिर्भवति सम्यग् धर्मं विपश्यतः ॥१४॥)

अनुवाद—शून्य(=एकान्त) गृहमें प्रविष्ट, शान्तचित्त भिक्षुको भली प्रकार धर्मका साक्षात्कार करते, अमानुषी रति (=आनंद) होती है ।

३७४—यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयव्ययं ।
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥१५॥

(यतो यतः संमृशति स्कन्धानां उदयव्ययम् ।
लभते प्रीतिप्रामोद्यं अमृतं तद् विजानताम् ॥ १५ ॥)

अनुवाद—(पुरुष) जैसे जैसे (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन) पाँच स्कन्धोंको उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, (वैसे ही वैसे, वह) ज्ञानियोंकी प्रीति और प्रमोद (रूपी) अमृतको प्राप्त करता है।

३७५—तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो ।
इन्द्रियगुत्ती सन्तुट्ठी पातिमोक्खे च संवरो ।
मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते ॥ १६ ॥

(तत्राऽयमादिर्भवतीह प्राज्ञस्य भिक्षोः ।
इन्द्रियगुप्तिः सन्तुष्टिः प्रातिमोक्षे च संवरः ।
मित्राणि भजस्व कल्याणानि शुद्धाजीवान्यतन्द्रितानि ॥१६॥)

अनुवाद—यहाँ प्राज्ञ भिक्षुको आदि(में करना) है—इन्द्रिय-संयम, सन्तोष और प्रातिमोक्ष(=भिक्षुओंके आचार)की रक्षा। (वह, इसके लिये) निरालस, शुद्ध जीविकावाले, अच्छे मित्रोंका सेवन करे।

३७६—पटिसन्थारवुत्तस्स आचारकुसलो सिया ।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥ १७ ॥

(प्रतिसंस्तारवृत्तस्याऽऽचारकुशलः स्यात् ।
ततः प्रामोद्यबहुलो दुःखस्याऽन्तं करिष्यति ॥१७॥)

अनुवाद—जो सेवा सत्कार स्वभाववाला तथा आचार(पालन)में निपुण है, वह सानन्द दुःखका अन्त करेगा।

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

३७७—वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति ।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥ १८॥

(वर्षिका इव पुष्पाणि मर्दितानि प्रमुंचति ।
एवं रागं च द्वेषं च विप्रमुंचत भिक्षवः ॥१८॥

अनुवाद—जैसे जूही कुम्हलाये फूलोंको छोड देती है, वैसे ही हे भिक्षुओ ! (तुम) राग और द्वेषको छोड़ दो ।

जेतवन (शान्तकाय थेर)

३७८—सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो ।
वन्तलोकामिसो भिक्खू उपसन्तो 'ति वुच्चति ॥ १९॥

(शान्तकायो शान्तवाक् शान्तिमान् सुसमाहितः ।
वान्तलोकाऽऽमिषो भिक्षुः 'उपशान्त' इत्युच्यते ॥१९॥

अनुवाद—काया (और) वचनसे शान्त, भली प्रकार समाधियुक्त, शान्ति सहित (तथा) लोकके आमिषको वमन कर दिये हुए भिक्षुको 'उपशान्त' कहा जाता है ।

जेतवन लङ्गूल (थेर)

३७९—अत्तना चोदय'त्तानं पटिवासे अत्तमत्तना ।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खू विहाहिसि ॥२०॥

(आत्मना चोदयेदात्मानं प्रतिवसेदात्मानं आत्मना ।
स आत्मगुप्तः स्मृतिमान् सुखं भिक्षो! विहरिष्यसि ॥२०

अनुवाद—(जो) अपने ही आपको प्रेरित करेगा, अपने ही आपको संलग्न करेगा; वह आत्म-गुप्त (=अपने द्वारा रक्षित) स्मृति-संयुक्त भिक्षु सुखसे विहार करेगा !

२८०—अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति ।
तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रंव वाणिजो ॥२१॥

(आत्मा ह्यात्मनो नाथ आत्मा ह्यात्मनो गतिः ।
तस्मात् संयमयात्मानं अश्वं भद्रमिव वणिक् ॥२१॥

अनुवाद—(मनुष्य) अपने ही अपना स्वामी है, अपने ही अपनी गति है; इसलिये अपनेको संयमी बनावे, जैसे कि सुन्दर घोड़ेको बनिया (संयत करता है) ।

राजगृह (वेणुवन) वक्कालि (थेर)

२८१—पामोज्जबहुलो भिक्खू पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥२२॥

(प्रामोद्यबहुलो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥२२॥

अनुवाद—बुद्धके उपदेशसे प्रसन्न बहुत प्रमोदयुक्त भिक्षु संस्कारोंको उपशमन करनेवाले सुखमय शान्त पदको प्राप्त करता है ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) सुमन (सामणेर)

२८२—यो ह वे दहरो भिक्खु युञ्जते बुद्धसासने ।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो 'व चन्दिमा ॥२३॥

(यो ह वै दहरो भिक्षुर्युंक्ते बुद्धशासने।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रान् मुक्त इव चन्द्रमा ॥२३॥)

अनुवाद——जो भिक्षु यौवनमें बुद्ध-शासन (=बुद्धोपदेश, बुद्ध-धर्म) में संलग्न होता है, वह मेघसे मुक्त चन्द्रमाकी भाँति इस लोकको प्रकाशित करता है।

२५—भिक्षुवर्ग समाप्त

२६—ब्राह्मणवग्गो

जेतवन (एक बहुत श्रद्धालु ब्राह्मण)

३८३—छिन्द सोतं परक्कम्म कामे पनुद ब्राह्मण ! ।
संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण ! ॥१॥

(छिन्धि स्रोतः पराक्रम्य कामान् प्रणुद ब्राह्मण ! ।
संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वाऽकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण ! ॥१॥)

अनुवाद—हे ब्राह्मण ! (तृष्णा रूपी) स्रोतको छिन्न करदे, पराक्रम कर, (और) कामनाओंको भगादे। संस्कृत (=कृत वस्तुओं, ५ उपादानस्कन्धों)के विनाशको जानकर, तू अकृत (=न कृत, निर्वाण)को पानेवाला हो जायेगा।

जेतवन (बहुतसे भिक्षु)

३८४—यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो ।
अथस्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥२॥

(यदा द्वयोर्धर्मयोः पारगो भवति ब्राह्मणः ।
अथाऽस्य सर्वे संयोगा अस्तं गच्छन्ति जानतः ॥२॥)

अनुवाद—जब ब्राह्मण दो धर्मों (—चित्त-संयम और भावना)में पारंगत हो जाता है, तब उस जानकारके सभी संयोग (=बंधन) अस्त हो जाते हैं।

जेतवन मार

३८५—यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥३॥

(यस्य पारं अपारं वा पारापारं न विद्यते।
वीतदरं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३॥)

अनुवाद—जिसके पार (=आँख, कान, नाक, जीभ, काया, मन), अपार (=रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, धर्म) और पारापार (=मैं और मेरा) नहीं हैं, (जो) निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन (कोई ब्राह्मण)

३८६—झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४॥

(ध्यायिनं विरजसमासीनं कृतकृत्यं अनास्रवम्।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४॥)

अनुवाद—(जो) ध्यानी, निर्मल, आसनबद्ध (=स्थिर), कृतकृत्य आस्रव (=चित्तमल)-रहित है, जिसने उत्तम अर्थ (=सत्य) को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) आनन्द (थेर)

३८७—दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा ।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो ।
अथ सब्बमहोरत्तिं बुद्धो तपति तेजसा ॥५॥

(दिवा तपत्यादित्यो रात्रावाभाति चन्द्रमा ।
सन्नद्धः क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मणः ।
अथ सर्वमहोरात्रं बुद्धस्तपति तेजसा ॥५॥)

अनुवाद—दिनमें सूर्य तपता है, रातको चन्द्रमा प्रकाशता है, कवचबद्ध (होनेपर) क्षत्रिय तपता है, ध्यानी (होनेपर) ब्राह्मण तपता है, और बुद्ध रात-दिन (अपने) तेजसे सब- (से अधिक) तपता है ।

जेतवन (कोई प्रव्रजित)

३८८—बाहितपापो 'ति ब्राह्मणो समचरिया समणो'ति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितो'ति वुच्चति ॥६॥

(वाहितपाप इति ब्राह्मणः समचर्यः श्रमण इत्युच्यते ।
प्राव्रजयन्नाऽऽत्मनो मलं तस्मात् प्रव्रजित इत्युच्यते ॥६॥)

अनुवाद—जिसने पापको (धोकर) बहा दिया वह ब्राह्मण है, जो समताका आचरण करता है, वह समण (=श्रमण= संन्यासी) है, (चूँकि) उसने अपने (चित्त-) मलोंको हटा दिया, इसीलिये वह प्रव्रजित कहा जाता है ।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

३८९—न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुंचेथ ब्राह्मणो ।
धि ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धि यस्स मुञ्चति ॥७॥

(न ब्राह्मणं प्रहरेत् नाऽस्मै मुञ्चेद् ब्राह्मणः ।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं ततो धिग् यस्मै मुंचति ॥७॥)

अनुवाद—ब्राह्मण (=निष्पाप) पर प्रहार नहीं करना चाहिये, और ब्राह्मणको भी उस (प्रहारदाता) पर (कोप) नहीं करना चाहिये, ब्राह्मणको जो मारता है, उसे धिक्कार है, और धिक्कार उसको भी है, जो (उसके लिये) कोप करता है ।

३९०—न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो
यदा निसेधो मनसो पियेहि ।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति
ततो ततो सम्मति एव दुक्खं ॥८॥

(न ब्राह्मणस्यैतद् अकिंचित् श्रेयो
यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्यः ।
यतो यतो हिंस्रमनो निवर्तते
ततस्ततः शाम्यत्येव दुःखम् ॥८॥)

अनुवाद—ब्राह्मणके लिये यह बात कम कल्याण(कारी) नहीं है, जो वह प्रिय (पदार्थों)से मनको हटा लेता है, जहाँ जहाँ मन हिंसासे मुड़ता है, वहाँ वहाँ दुःख (अवश्य) ही शान्त हो जाता है ।

जेतवन

महापजापती गोतमी

३९१—यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं ।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥९॥

(यस्य कायेन वाचा मनसा नाऽस्ति दुष्कृतम् ।
संवृतं त्रिभिः स्थानैः, तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥९॥)

अनुवाद—जिसके मन वचन कायसे दुष्कृत (=पाप) नहीं होते, (जो इन) तीनों ही स्थानोंसे संवर (=संयम)-युक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन

सारिपुत्त (थेर)

३९२—यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्धदेसितं ।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं 'व ब्राह्मणो ॥१०॥

(यस्माद् धर्मं विजानीयात् सम्यक्-संबुद्ध-देशितम् ।
सत्कृत्य तं नमस्येद् अग्निहोत्रमिव ब्राह्मणः ॥१०॥)

अनुवाद—जिस (उपदेशक)से सम्यक्संबुद्ध(=बुद्ध)द्वारा उपदिष्ट धर्मको जाने, उसे (वैसेही) सत्कारपूर्वक नमस्कार करे, जैसे अग्निहोत्रको ब्राह्मण ।

जेतवन

जटिल ब्राह्मण

३९३—न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥११॥

(न जटाभिर्न गोत्रैर्न जात्या भवति ब्राह्मणः ।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ॥११॥)

अनुवाद—न जटासे, न गोत्रसे; न जन्मसे ब्राह्मण होता है, जिसमें सत्य और धर्म हैं, वही, शुचि (=पवित्र) है, और वही ब्राह्मण है।

वैशाली (कूटागारशाला) (पाखंडी ब्राह्मण)

३९४—किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया ।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥१२॥

(किं ते जटाभिः दुर्मेध ! किं तेऽजिनशाट्या ।
आभ्यन्तरं ते गहनं बाह्यः परिमार्जयसि ?॥१२॥)

अनुवाद—हे दुर्बुद्धि ! जटाओंसे तेरा क्या (बनेगा), (और) मृग-चर्मके पहिननेसे तेरा क्या ? भीतर (दिल) तो तेरा (राग आदि मलोंसे) परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है ?

राजगृह (गृध्रकूट) किसा गोतमी

३९५—पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१३॥

(पांशुकूलधरं जन्तुं कृशं धमनिसन्ततम् ।
एकं वने ध्यायन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१३॥)

अनुवाद—जो प्राणी फटे चीथड़ोंको धारण करता है, जो दुबला पतला और नसोंसे मढ़े शरीरवाला है, जो अकेला वनमें ध्यानरत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (एक ब्राह्मण)

३९६—न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं ।
'भो वादि' नाम सो होति स वे होति सकिञ्चनो ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १४॥

(न चाऽहं ब्राह्मणं ब्रवीमि योनिजं मातृसंभवम् ।
'भो वादी' नाम स भवति स वै भवति सकिंचनः ।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१४॥)

अनुवाद—माता और योनिसे उत्पन्न होनेसे मैं (किसी को) ब्राह्मण नहीं कहता, वह "भो वादी"* है, वह (तो) संग्रही है; मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही, और लेनेकी (इच्छा) न रखनेवाला है ।

राजगृह (वेणुवन) उग्गसेन (श्रेष्ठीपुत्र)

३९७—सब्बसञ्ञोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति ।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १५॥

(सर्वसंयोजनं छित्त्वा यो वै न परित्रस्यति ।
संगाऽतिगं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१५॥)

अनुवाद—जो सारे संयोजनों(=बंधनों)को काटता है, जो कि

---

* उस समयके ब्राह्मण ब्राह्मणको ही "भो" कहकर संबोधन किया करते थे ।

भय नहीं खाता, जो संग और आसक्तिसे विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (दो ब्राह्मण)

३९८—छेत्वा नन्दिं वरत्तञ्च सन्दानं सहनुक्कमं ।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१६॥

(छित्वा नन्दिं वरत्रां च सन्दानं सहनुक्रमम् ।
उत्क्षिप्तपरिघं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१६॥)

अनुवाद—नन्दी (=क्रोध), वरत्रा (=तृष्णा रूपी रस्सी), सन्दान (=६२ प्रकारके मतवादरूपी पगहे), और हनुक्कम (=मुँहपर बाँधनेके जावे)को काट एवं परिघ (=जूए)को फेंक जो बुद्ध (=ज्ञानी) हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) (अक्कोस) भारद्वाज

३९९—अक्कोसं वधबन्धञ्च अदुट्ठो यो तितिक्खति ।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१७॥

(अक्रोशान् वध-बंधं च अदुष्टो यस्तितिक्षति ।
क्षान्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१७॥)

अनुवाद—जो बिना दूषित (चित्त) किये गाली, वध और बंधनको सहन करता है, क्षमा बलही जिसके बल(=सेना)का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) सारिपुत्त (थेर)

४००—अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सदं ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

(अक्रोधनं व्रतवन्तं शीलवन्तं अनुश्रुतम् ।
दान्तं अन्तिमशरीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१८॥)

अनुवाद—जो अक्रोधी, व्रती, शीलवान्, बहुश्रुत, संयमी (=दान्त) और अन्तिम शरीरवाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) उप्पलवण्णा (थेरी)

४०१—वारि पोक्खरपत्ते 'व आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥

(वारि पुष्करपत्र इव, आराग्र इव सर्षपः ।
यो न लिप्यते कामेषु तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१९॥

अनुवाद—कमलके पत्तेपर जल, और आरेके नोकपर सरसों, की भाँति जो भोगोंमें लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (कोई ब्राह्मण)

४०२—यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥

(यो दुःखस्य प्रजानातीहैव क्षयमात्मनः ।
पन्नभारं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२०॥

अनुवाद—जो यहीं (=इसी जन्समें) अपने दुःखोंके विनाशको

जान लेता है, जिसने अपने बोझको उतार फेंका, और जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (गृध्रकूट) खेमा (भिक्षुणी)

४०३—गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥
(गंभीरप्रज्ञं मेधाविनं मार्गामार्गस्य कोविदम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२१॥

अनुवाद—जो गम्भीर प्रज्ञावाला, मेधावी, मार्ग-अमार्गका ज्ञाता, उत्तम पदार्थ (=सत्य)को पाये है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (पब्भारवासी) तिस्स (थेर)

४०४—असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं ।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२२॥
(असंसृष्टं गृहस्थैः, अनागारैश्चोभाभ्याम् ।
अनोकःसारिणं अल्पेच्छं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२२॥

अनुवाद—घरवाले (=गृहस्थ) और बेघरवाले दोनों हीमें जो लिप्त नहीं होता, जो बिना ठिकानेके घूमता तथा बेचाह है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (कोई भिक्षु)

४०५—निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥

(निधाय दण्डं भूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।
यो न हन्ति न घातयति तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२३॥)

अनुवाद——चर-अचर (सभी) प्राणियोंमें प्रहारविरत हो, जो न मारता है, न मारनेकी प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन — चार श्रामणेर

४०६—अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥

(अविरुद्धं विरुद्धेषु, आत्तदण्डेषु निर्वृत्तम्।
सादानेष्वनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२४॥)

अनुवाद——जो विरोधियोंके बीच विरोधरहित रहता है, जो दंड-धारियोंके बीच (दण्ड-)रहित है, संग्राहियोंमें जो संग्रहरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

राजगृह (वेणुवन) — महापन्थक (थेर)

४०७—यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

(यस्य रागश्च द्वेषश्च मानो म्रक्षश्च पातितः।
सर्षप इवाऽऽराग्रात् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२५॥)

अनुवाद——आरेके ऊपर सरसोंकी भाँति, जिसके (चित्तसे) राग, द्वेष, मान, डाह, फेंक दिये गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

राजगृह (वेणुवन) पिलिन्द वच्छ

४०८—अकक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे किञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
(अकर्कशां विज्ञापनीं गिरं सत्यां उदीरये
यया नाऽभिषजेत् किंचित् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्

अनुवाद—(जो इस प्रकार की) अकर्कश, आदरयुक्त
सच्ची वाणीको बोले; कि, जिससे कुछ भी पीडा
उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन कोई स्था

४०९—यो 'ध दीघं वा रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियते तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
(य इह दीर्घं वा ह्रस्वं वाऽणुं स्थूलं शुभाऽशुभम्।
लोकेऽदत्तं नादत्ते तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२

अनुवाद—(चीज) चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, मोटी हो या पत
शुभ हो या अशुभ, जो संसारमें (किसी भी) विना
चीजको नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

४१०—आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥
(आशा यस्य न विद्यन्तेऽस्मिन् लोके परस्मिन् च।
निराशयं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२८॥)

अनुवाद—इस लोक और परलोकके विषयमें जिसकी आशायें (=चाह) नहीं रहगई हैं, जो आशारहित और आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन — महामोग्गलान (थेर)

४११—यस्सालया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथंकथी।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥

(यस्याऽऽलया न विद्यन्त आज्ञायाऽकथंकथी।
अमृतावगाधमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२९॥)

अनुवाद—जिसको आलय (=तृष्णा) नहीं है, जो भली प्रकार जानकर अकथ(-पद)का कहनेवाला है, जिसने गाढे अमृतको पालिया; उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) — रेवत (थेर)

४१२—योध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभो सङ्गं उपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

(य इह पुण्यं च पापं चोभयोः संगं उपात्यगात्।
अशोकं विरजं शुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३०॥)

अनुवाद—जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनोंकी आसक्तिको छोड़ दिया, जो शोकरहित, निर्मल, (और) शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन चन्दाभ (थेर)

४१३—चन्दं'व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं ।
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

(चन्द्रमिव विमलं शुद्धं विप्रसन्नमनाविलम् ।
नन्दीभवपरीक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३१॥)

अनुवाद—जो चन्द्रमाकी भाँति विमल, शुद्ध, स्वच्छ=अनाविल है, (तथा जिसकी) सभी जन्मोंकी तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

कुण्डिया (कोलिय) सीवलि (थेर)

४१४—यो इमं पळिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा ।
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी ।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

(य इमं प्रतिपथं दुर्गं संसारं मोहमत्यगात् ।
तीर्णः पारगतो ध्याय्यनेजोऽकथंकथी ।
अनुपादाय निर्वृतः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३२॥)

अनुवाद—जिसने इस दुर्गम संसार, (=जन्म मरण)के चक्करमें डालने-वाले मोह(रूपी) उलटे मार्गको त्याग दिया, जो (संसारसे) पारंगत, ध्यानी तथा तीर्ण (=तर गया) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन सुन्दर समुद्द (थेर)

४१५—यो 'ध कामे पहत्वान अनागारो परिब्बजे ।
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

(य इह कामान् प्रहायाऽनागारः परिव्रजेत् ।
कामभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३३॥)

अनुवाद—जो यहाँ भोगोंको छोड़, बेघर हो प्रव्रजित (=संन्यासी) हो गया है, जिसके भोग और जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) जटिल (थेर)

४१६—यो'ध तण्हं पहत्वान अनागारो परिब्बजे ।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

(य इह तृष्णां प्रहायाऽनागारः परिव्रजेत् ।
तृष्णाभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३४॥)

अनुवाद—जो यहाँ तृष्णाको छोड, बेघर बन प्रव्रजित है, जिसकी तृष्णा और (पुनर्-)जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) (भूतपूर्व नट भिक्षु)

४१७—हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा ।
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

(हित्वा मानुषकं योगं दिव्यं योगं उपात्यगात् ।
सर्वयोगविसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३५॥)

अनुवाद—मानुष(-भोगोंके) लाभोंको छोड़, दिव्य (भोगोंके) लाभको भी (जिसने) त्याग दिया, सारे ही लाभोंमें जो आसक्त नहीं है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१८—हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च सीतिभूतं निरूपधिं ।
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥
(हित्त्वा रतिं चाऽरतिं च शीतीभूतं निरूपधिम् ।
सर्वलोकाऽभिभुवं वीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३६॥)

अनुवाद—रति और अरति (=घृणा)को छोड़, जो शीतल-स्वभाव (तथा) क्लेशरहित है, (जो ऐसा) सर्वलोकविजयी, वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

राजगृह (वेणुवन) वङ्गीस (थेर)

४१९—चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिञ्च सब्बसो ।
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥
(च्युतिं यो वेद सत्त्वानां, उपपत्तिं च सर्वशः ।
असक्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३७॥)

अनुवाद—जो प्राणियोंकी च्युति (=मृत्यु) और उत्पत्तिको भली प्रकार जानता है, (जो) आसक्तिरहित सुगत (=सुंदर गतिको प्राप्त) और बुद्ध (=ज्ञानी) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४२०—यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा ।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

(यस्य गतिं न जानन्ति देव-गंधर्व-मानुषाः ।
क्षीणास्रवं अरहन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३८॥)

अनुवाद—जिसकी गति(=पहुँच)को देवता, गंधर्व, और मनुष्य नहीं जानते, जो क्षीणास्रव (=रागादिरहित) और अर्हत् हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) धम्मदिन्ना (थेरी)

४२१—यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

(यस्य पुरश्च पश्चाच्च मध्ये च नाऽस्ति किंचन ।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९॥)

अनुवाद— जिसके पूर्व, और पश्चात् और मध्यमें कुछ नहीं है, जो परिग्रहरहित=आदानरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन अङ्गुलिमाल (थेर)

४२२—उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

(ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षिं विजितवन्तम् ।
अनेजं स्नातकं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०॥)

अनुवाद—(जो) ऋषभ (= श्रेष्ठ), प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकम्प्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन देवहित (ब्राह्मण)

४२३—पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायञ्च पस्सति ।
अथो जातिक्खयंपत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि ।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

(पूर्वनिवासं यो वेद स्वर्गाऽपायं च पश्यति ।
अथ जातिक्षयंप्राप्तोऽभिज्ञाव्यवसितो मुनिः ।
सर्वव्यवसितव्यवसानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१॥)

अनुवाद—जो पूर्व जन्मको जानता है, स्वर्ग और अगतिको जो देखता है; और जिसका (पुनर्-) जन्म क्षीण हो गया, (जो) अभिज्ञा(= दिव्यज्ञान)-परायण है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

२६—ब्राह्मणवर्ग समाप्त

(इति)

गाथा-सूची

शब्द-सूची

अकिञ्चन—राग, द्वेष और मोहसे रहित।

अनुसय (=अनुशय)—कामराग (=भोगतृष्णा), प्रतिघ (=प्रतिहिंसा), दृष्टि (=उल्टी धारणा), विचिकित्सा (=सन्देह), मान (=अभिमान), भवराग, (=संसारमें जन्मनेकी तृष्णा), अविद्या।

अरिय (=आर्य)—स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत् (=मुक्त)।

आभस्सर (=आभास्वर)—रूपलोक (=जहाँके प्राणियोंका शरीर प्रकाशमय है)की एक देवजाति।

आयतन—आँख, कान, नाक, जीभ, काया (=त्वक्) और मन।

आसव (=आस्रव मल),—कामास्रव (=भोगसंबंधी मल), भवास्रव (=भिन्न भिन्न लोकोंमें जन्म लेनेका लालचरूपी मल), दृष्टयास्रव (=उल्टी धारणा रूपी मल), अविद्यास्रव।

उपधि (=उपाधि)—स्कन्ध, काम, क्लेश और कर्म।

खन्ध (=स्कन्ध)—रूप (=परिमाण और तोल रखनेवाला तत्त्व), वेदना, संज्ञा, संस्कार, (वेदना आदि तीन, रूप और

विज्ञानके सम्पर्कसे उत्पन्न विज्ञानकी अवस्थायें हैं), विज्ञान (=चेतना, परिमाण और तोल न रखनेवाला तत्त्व)।

थेर—(=स्थविर) वृद्ध भिक्षु।

थेरी—(=स्थविरा) वृद्ध भिक्षुणी।

पातिमोक्ख (=प्रातिमोक्ष)—विनय पिटकमें कहे भिक्षु-भिक्षुणियोंके पाराजिक, संघादिसेस आदि नियम। भिक्षुओंके लिये उनकी संख्या इस प्रकार है—

	पाली विनय	(सर्वास्तिवाद)
१. पाराजिक	४	४
२. संघावशेष	१३	१३
३. अनियत	२	२
४. निःसर्गिक	३३	३०
५. पातयन्तिक	९२	९०
६. प्रातिदेशनीय	४	४
७. शैक्ष	७३	११२
८. अधिकरणशमथ	७	७
	२१८	२६३

मार—इन्द्रसे ऊपर और ब्रह्मासे नीचेका देवता, जिसे वैदिक साहित्य में प्रजापति कहते हैं। राग, द्वेष, मोह आदि मनकी दुष्प्रवृत्तियाँ, जो सत्यके मार्गमें बाधक होती हैं, उन्हें ही रूपक के तौर पर मार नामका एक देवता माना गया है।

सञ्ञोजन (=संयोजन)—सत्कायदृष्टि (=जीवनको रूप-विज्ञानके संयोगसे न मान कर, कायामें एक नित्य चेतनकी अलग कल्पना करना), विचिकित्सा (=संदेह), शीलव्रतपरामर्श

(=परम ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न न करके, वाह्य आचार और व्रतोंसे कृतकृत्यता मानना), कामराग (=स्थूल-शरीर-धारियों के भोगोंकी तृष्णा), रूपराग (=प्रकाशमय शरीर धारियोंके भोगोंकी तृष्णा), अरूपराग (=रूपरहित देवताओंके भोगोंकी तृष्णा), प्रतिघ (=प्रतिहिंसा), मान (=अभि-मान), औद्धत्य (=उद्धतपना), और अविद्या ।

सम्बोज्झङ्ग (=संबोध्यंग)—स्मृति, धर्मविचय (=धर्मपरीक्षा), वीर्य (=उद्योग), प्रीति, प्रश्रब्धि (=शान्ति), समाधि, उपेक्षा ।

सामणेर (=श्रामणेर)—भिक्षु होनेका उम्मेदवार बौद्ध साधु, जिसे भिक्षुसंघने अभी उपसम्पन्न (=भिक्षुदीक्षासे दीक्षित) नहीं किया ।

सील (=शील)—हिंसा-विरति, मिथ्याभाषण-विरति, चोरीसे विरति, व्यभिचारविरति, मादक द्रव्य सेवन-विरति—यह पाँच शील (=सदाचार) गृहस्थ और भिक्षु दोनोंके समान हैं। अपराह्णभोजन त्याग, नृत्य गीत त्याग, माला आदिके शृंगार का त्याग, महार्घ शय्याका त्याग, तथा सोने चाँदीका त्याग, यह पाँच केवल भिक्षुओंके शील हैं ।

सेख (=शैक्ष्य)—अर्हत् (=मुक्त) पदको नहीं प्राप्त हुए, आर्य (=स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी) शैक्ष्य कहे जाते हैं, क्योंकि वह अभी शिक्षणीय हैं ।

सोतापन्न (=स्रोतआपन्न)—आध्यात्मिक विकास करते जब प्राणी इस प्रकारकी मानसिक स्थितिमें पहुँच जाता है; कि, फिर वह नीचे नहीं गिर सकता और निरन्तर आगे ही बढ़ता

जाता है; ऐसी अवस्थामें पहुँचे पुरुषको सोतापन्न कहते हैं। सोत (=स्रोतः)=निर्वाणगामी नदी-प्रवाहमें जो आपन्न (=पड़ गया) है।*

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याऽशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्रज्ञोऽनुपश्यति

योगभाष्य १।४७

कामं कामयानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते॥

न्यायभाष्य ४।१।५७

न तेन वृद्धो भवति—मनु० २। धम्म० १६।५

---

*बौद्ध पारिभाषिक शब्दोंके विशेष परिचयके लिये बुद्ध-चर्याकी शब्दसूची देखिये।